चित्त-शुद्धि

• भाग-१ •

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

चित्त-शुद्धि

भाग १

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन संत प्रवर, प्रज्ञाचक्षु
श्रीशरणानन्द जी महाराज की अमृत वाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा) २८१ १२१

चित्त-शुद्धि

भाग १

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन सन्त प्रवर पूज्यपाद
श्रीशरणानन्द जी महाराज की अमृत वाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा) २८१ १२१

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ, वृन्दावन

२०१५ वि., १५ अगस्त १९५८
प्रथम संस्करण—३,००० प्रतियाँ

२०२२ वि., २५ मई, १९६५
द्वितीय संस्करण—३,०००

२०३३ वि., मार्च १९७७
तृतीय संस्करण—४,४०० प्रतियाँ

२०४५ वि., २६ जुलाई १९८८, गुरु पूर्णिमा
चतुर्थ संस्करण—(दो भागों में) ४,००० प्रतियाँ

२०५५ वि., ३० नवम्बर १९९८, गीता जयन्ती
पंचम संस्करण—(दो भागों में) ४००० प्रतियाँ

मूल्य— १५) रुपये

मुद्रक :
चित्रलेखा—श्रीहरिनामप्रेस
बागबुन्देला, वृन्दावन
फोन : ४४२४१५, ४४३४१५

भूमिका

जब बाहर का संघर्ष मनुष्य के जीवन में जागृति लाता है, तब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अपना अन्तः—निरीक्षण (Introspection) करते ही उसे बाहर से भी अधिक भयावह संघर्ष का दर्शन भीतर होता है, जिसे देखकर वह एक बार घबड़ाता है। फिर उस संघर्ष से छुटकारा पाने के लिए अपने प्रयत्न में लग जाता है। मानवता की ओर गतिशील होने वाले व्यक्ति के जीवन का पहला प्रश्न है—अन्तर्द्वन्द्व मिटाना। साधनयुक्त जीवन का ही नाम मानव—जीवन है। इस दृष्टि से व्यक्ति जब जीवन को साधनमय बनाने चलता है, तो पहली बाधा कहें, अथवा पहली मंजिल कहें, चित्त की अशुद्धि का प्रश्न उसके सामने आता है।

जैसे, खेत में अन्न उपजाने के लिए उसके झाड़—झंखाड़ को समूल नष्ट कर खेत तैयार किया जाता है, तभी उसमें बीज डालने पर पौधे लहलहाते हैं, वैसे ही किसी भी विध्यात्मक साधन को सफल बनाने के लिए चित्त को शुद्ध करना आवश्यक है, ज़िसके बिना कोई भी विध्यात्मक साधन में कभी—भी सफल नहीं हो सकता। अतः मानव के जीवन में साधन के पथ में पहला प्रश्न है—चित्त को शुद्ध करना। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय की विशद व्याख्या अनेक रूपों में अनेक ढंग से विभिन्न योग्यता, विचार और स्तर के साधकों के चित्त की दशा पर दृष्टि रख कर की गई है।

साधारणतः जब इन्द्रिय—ज्ञान और बुद्धि—ज्ञान का संघर्ष चलता है, तो हम चित्त का एक अलग ही अस्तित्व मान लेते हैं और उसको अपने अधीन करने का विफल प्रयास करते हैं। उसकी निन्दा करते हैं, हार मानते हैं, साधन कठिन बताते हैं और अपनी विवशता कह कर जी चुराते हैं।

चित्त-शुद्धि के प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह प्रकाश मिलता है कि चित्त कर्त्ता नहीं है, करण है। अशुद्धि उसका दोष नहीं है, अपना दोष है। व्यक्ति ने स्वयं उसे अशुद्ध किया है और वह स्वयं उसे शुद्ध भी कर सकता है।

समस्त सृष्टि में जो शक्ति (Universal Energy) निरन्तर कार्य कर रही है, "चित्त" उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है।

इस विवेचन में 'चित्त' शब्द का प्रयोग अन्तःकरण के अर्थ में किया गया है। यह जीवन के एक पहलू के कार्यों का प्रतीक मात्र है। मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे Psychic Apparatus कहते हैं, उसकी क्रियाओं के फल का आधार चित्त है। इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव इसमें अंकित होता है। प्रभाव जब तक अंकित होता रहता है, तब तक चित्त का अस्तित्व भासता है। जब अंकित प्रभाव मिट जाता है, तब चित्त का भास नहीं होता।

चित्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है जो स्वयं–प्रकाश है, उसमें अशुद्धि का प्रवेश हो नहीं सकता। इसलिए जिसमें अशुद्धि का प्रवेश है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। फिर जिसके स्वतन्त्र अस्तित्व का भास ही अशुद्धि पर निर्भर करता है, उसके अस्तित्व का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि चित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

सीमित अहम्भाव की स्वीकृति से कर्त्तृत्व का अभिमान और वस्तुओं के सम्बन्ध से भोक्तृत्व की रुचि उत्पन्न होती है। उनका प्रभाव जिसमें अंकित होता है, उसका नाम है 'चित्त'। जैसे Mind शब्द का Objective कोई पहलू नहीं है, वैसे ही 'चित्त' शब्द का कोई स्थूल रूप नहीं है। इसकी क्रियाओं द्वारा इसका भास होता है।

सुने हुए, माने हुए, व्यक्त–अव्यक्त, भुक्त–अभुक्त इन्द्रिय–जनित सुख का राग अंकित होने के कारण जब संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति के सुख–दुःख का प्रवाह चलने लगता है, तब हम कहने लगते हैं कि चित्त दुःखी है, खिन्न है, अप्रसन्न है, चंचल है और द्वन्द्व से भरा है आदि–आदि। व्यक्त और अव्यक्त रूप से चलने वाले आन्तरिक संघर्ष के कारण "जीवनी–शक्ति" (Libidinal force)

चित्त के द्वन्द्व और उसके दमन में व्यय होने लगती है, तब दैनिक जीवन के अभियोजन (Adjustment) एवं विध्यात्मक साधन के लिए सामर्थ्य और अवकाश नहीं रह जाता। साधक चित्त को जिसमें लगाना चाहता है वहाँ लगता नहीं और जहाँ से उसे हटाना चाहता है वहाँ से वह हटता नहीं। चित्त साधक के अधीन नहीं रहता, वरन् साधक अपने को अपने चित्त के अधीन पाता है। यही चित्त की सबसे बड़ी अशुद्धि है।

चित्त के शुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि चित्त के अस्तित्व का भास मिट जाना ही इसकी शुद्धि है। निर्विकारता आ जाय और वास्तविक जीवन से भिन्न का अस्तित्व न रह जाय–यही शुद्ध चित्त का स्वरूप है। चित्त का स्वरूप, उसका कार्य, उसकी अशुद्धि और शुद्धि के सम्बन्ध में उपर्युक्त निश्चित धारणा (Definite Conception) लेकर अशुद्धि के कारण, शुद्धि के उपाय और उसके परिणाम का विशद विवेचन सम्पूर्ण पुस्तक में किया गया है। चित्त की अशुद्धि के स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप का उल्लेख किया गया है, यथा–

१–"सामर्थ्य का दुरुपयोग चित्त की अशुद्धि है।"

२–"दोष की वेदना का न होना चित्त की अशुद्धि है।"

३–"कर्त्तव्य का ज्ञान न करना, विश्राम न पाना और जिसको अपना माना, उसको प्यार न करना अस्वाभाविकता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है।"

४–"किसी भी की हुई, सुनी हुई और देखी हुई भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को, अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेना चित्त की अशुद्धि है।"

५–"वर्त्तमान की नीरसता चित्त की अशुद्धि का परिचायक है।"

६–"व्यर्थ चिन्तन, चित्त को शान्त नहीं होने देता।"

७–"वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्यांकन

करने से चित्त अशुद्ध होता है।"

८–"संयोग की दासता और वियोग का भय चित्त की अशुद्धि है।"

९–"करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहने से चित्त अशुद्ध होता है।"

१०–"ज्ञान और जीवन में भेद होना चित्त की अशुद्धि है।"

११–"साधक अपने व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।"

१२–"चित्त को दबाए रखना चित्त की अशुद्धि का पोषक है।"

१३–"संकल्पों की उत्पत्ति और पूर्ति में ही जीवन–बुद्धि चित्त की अशुद्धि है।"

१४–"अहम्–भाव का महत्त्व चित्त की अशुद्धि है।"

१५–"चित्त–शुद्धि की साधना में श्रम और कठिनाई का अनुभव एक अस्वाभाविकता है। यह चित्त की अशुद्धि है।"

१६–"सीमित गुणों का भोग अशुद्धि है।"

१७–"साधन–मार्ग की प्राप्त सिद्धियों में सन्तुष्टि शुद्धि में बाधा है।"

१८–"सीमित अहम्–भाव का नाश न होना मौलिक एवं अन्तिम अशुद्धि है।"

साधक अपने चित्त की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं जानता। वह ज्यों ही अपनी मौलिक माँग (जीवन, सामर्थ्य, रस) की पूर्ति के लिए साधन में प्रवृत्त होना चाहता है, त्यों ही चित्त की अशुद्धि से उसकी मुठभेड़ होती है और बेचारा अनजान साधक वहीं उलझ जाता है। अनमोल जीवन का बहुत बड़ा भाग चित्त से सुलझने में ही निकल जाता है। साधकों की इस दशा को दृष्टि में रख कर जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूत अशुद्धियों से प्रत्येक निबन्ध को प्रारम्भ किया गया है और उन अशुद्धियों के कारण तथा शुद्धि के अति व्यावहारिक उपाय बताये गये हैं। यद्यपि चित्त की अशुद्धि का मौलिक कारण एक ही

है–वस्तु, अवस्था और परिस्थिति में जीवन–बुद्धि की स्वीकृति। तथापि यह मौलिक अशुद्धि विभिन्न व्यक्तियों के चित्त में विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। इसलिए साधक के चित्त में अशुद्धि जिन–जिन रूपों में व्यक्त होती है, उनका उल्लेख किया गया है, जिससे साधक को पुस्तक की विषय–वस्तु अपने जीवन की विषय–वस्तु मालूम हो।

शिक्षा–विभाग में साहित्य के पाठ्य–क्रम में जिस प्रकार वर्णमाला परिचय से लेकर भाषा–विज्ञान (Philology) का क्रम दिया जाता है और छात्र अपनी वर्तमान योग्यतानुसार अध्ययन आरम्भ करता है, वैसे ही प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न स्तर के साधकों के लिए कर्म, चिन्तन एवं स्थिति–काल की विभिन्न अशुद्धियों एवं उनके मिटाने के उपायों का विवेचन किया गया है। इस पुस्तक में प्रत्येक साधक को अपने चित्त का चित्र देखने को मिल सकता है और वह अपने योग्य साधन को अपनाकर अपना चित्त शुद्ध कर सकता है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातें जो इस चित्त–शुद्धि के विवेचन में मुझे मिलती है, वे निम्नलिखित हैं–

१–"चित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।"

२–'चित्त 'करण' है, कर्त्ता नहीं।"

३–"इसकी अशुद्धि अपना बनाया हुआ दोष है, इसलिए अपने द्वारा मिटाया जा सकता है।"

४–"जब चित्त का ही स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, तो अशुद्धि स्थायी हो नहीं सकती, इसलिए अशुद्धि का नाश अवश्यम्भावी है।"

५–"सर्वांश में चित्त किसी का अशुद्ध नहीं है।"

६–"विवेक के अनादर से अशुद्धि उत्पन्न हुई है। अतः विवेक के आदर से इसका नाश निश्चित है।"

७–"विवेक प्रत्येक मानव को सदा से प्राप्त है।"

८–"निज-विवेक के आदर द्वारा प्रत्येक साधक युग–युग की अशुद्धि को वर्तमान में मिटाने में समर्थ है।"

९–"अशुद्धि के मिटते ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति का

साधन सुलभ हो जाता है, अर्थात् साधन और जीवन में अभिन्नता हो जाती है।"

१०–"चित्त–शुद्धि साधक का पहला और अन्तिम पुरुषार्थ है।"

११–"अशुद्धि के ज्ञान में शुद्धि का उपाय निहित है।"

१२–"एक बार शुद्धि आ जाने पर फिर अशुद्धि नहीं आती।"

चित्त–शुद्धि के सम्बन्ध में निर्दिष्ट उपर्युक्त प्रत्येक तथ्य साधक के पथ को प्रशस्त करने वाला है। जैसे कोई व्यक्ति धूमिल प्रकाश में अपनी विकृत प्रतिच्छाया को देखकर प्रेत के भय से आक्रान्त हो गया हो और यदि यह बता दिया जाय कि वह प्रेत नहीं, उसकी अपनी ही छाया है, तो वह निर्भय होकर हँसने लगेगा। उसी प्रकार उपर्युक्त तथ्य चित्त की विकृति, चंचलता और उसके जीतने की दुरूहता के भय से आक्रान्त साधक को भय–मुक्त करने वाले हैं।

साधक चित्त की अशुद्धि से घबड़ाते क्यों हैं ? क्योंकि वे नहीं जानते कि अशुद्धि अस्तित्व–विहीन है, वे नहीं जानते कि यह प्रमाद–जनित है। उन्हें यह विश्वास नहीं रहता कि चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन का प्रश्न है। अनजान में ही वे विध्यात्मक–साधन अपनाने का विफल प्रयास करते हैं, चित्त को बल पूर्वक दबाते हैं, थक कर सफलता से निराश होने लगते हैं और अपने साधन में सन्देह करने लगते हैं, जो साधक के जीवन का सबसे काला भाग है।

प्रस्तुत पुस्तक में चित्त–शुद्धि का जो विवेचन दिया गया है, वह साधकों का भ्रम मिटाकर उनके साधन को सजीव बनाने वाला है। चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन का प्रश्न है, यह बात स्वीकार करते ही साधक में अदम्य उत्साह उत्पन्न होता है और वह साधन में तल्लीन हो जाता है।

चित्त–शुद्धि का विषय मानव–जाति के मानसिक स्वास्थ्य के पहलू पर प्रकाश डालता है। आधुनिक युग में मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए बड़े–बड़े सिद्धान्त निर्धारित किये जा रहे हैं,

क्योंकि आज मनुष्य का अभियोजन (Adjustment) अपेक्षाकृत कठिन हो गया है। विचारक इस बात को समझने लगे हैं कि असन्तुलन का कारण बाहर की अपेक्षा मनुष्य के भीतर अधिक है। मानसिक विकृतियों से पीड़ित भाई–बहनों के लिए मानसिक चिकित्सालयों पर अपार धनराशि खर्च हो रही है। कितने ही प्रतिभाशाली अन्वेषक रोगियों के दुःख से पीड़ित होकर अपना जीवन रोगों के कारण और उनके निवारण की खोज पर लगाये जा रहे हैं। फिर भी स्विट्जरलैण्ड के विख्यात, मानसिक रोगों के चिकित्सक और मनोविज्ञान के अध्यापक (Psychiatrist and psychology teacher) डा. बॉस (Dr. Boss) के व्यथित हृदय से निराशाभरी वाणी निकलती है–

"As we study more and more in psychology, we find ourselves hanging in the air. Our findings are baseless. I have come to Indian saints to find something more solid, more dependable which we can give to our students."

शब्दावली मुझे ठीक याद नहीं है। पर सारांश यही है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में वे जितना अधिक अध्ययन करते हैं, उतना ही उनका ज्ञान निराधार मालूम होता है। वे चाहते हैं कि कुछ अधिक विश्वसनीय तत्त्व प्राप्त हो। इसी के लिए वे भारतीय सन्तों के पास आते हैं, ताकि अपने विद्यार्थियों को कुछ अधिक विश्वसनीय तत्त्व दे सकें। ठीक है।

चित्त–शुद्धि की प्रस्तुत व्याख्या को पढ़कर मुझे ऐसा लगता है कि जिस विज्ञान का विशेषतः Psychopathology का आधार ही अस्तित्व–विहीन है, उसमें कोई Dependable तत्त्व मिल ही कैसे सकता है ?

आज चित्त के व्यक्त और अव्यक्त संघर्ष को सुलझाने का प्रयास करने वाले मानव जाति के हित–चिन्तकों को यदि यह विदित हो जाय कि द्वन्द्व–जनित विकृति का आधार ही अस्तित्व–विहीन है तो उस समस्या को सुलझाने का सरल मार्ग निकल जाय। तब फ्रायड के इन शब्दों को दोहराना नहीं पड़ेगा

कि—"We can supress the cry that life is not easy-" "हम इस क्रन्दन को दबा नहीं सकते कि जीवन आसान नहीं है।"

यह बात तो Psychic Apparatus के अस्तित्त्व को स्वीकार कर उठने वाले संकल्पों की पूर्ति—अपूर्ति को जीवन मानकर ही कही जाती है। वस्तु में जीवन—बुद्धि रखने के बाद संघर्ष, निराशा, क्षोभ और विकृति से परित्राण कैसे मिले ? नहीं मिल सकता। अशुद्धि—जनित पीड़ा से परित्राण तो वास्तविक जीवन से अभिन्न होने पर ही सम्भव है। प्रस्तुत व्याख्या सामान्य—असामान्य चित्त वालों (Normal-Abnormal) को चेतन—अचेतन के संघर्ष की पीड़ा से बचाने का महामन्त्र है।

अशुद्धि का मूल कारण है—देह, अवस्था, वस्तु एवं परिस्थिति में जीवन—बुद्धि, जो प्रमाद जनित है। शुद्धि का मूल उपाय बताया गया है—

(१) आस्तिक—दृष्टि से विश्वासपूर्वक अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेना।

(२) अध्यात्म—दृष्टि से विवेकपूर्वक अचाह होना।

(३) भौतिक—दृष्टि से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए विधिपूर्वक सम्पादित करना।

शुद्धि का परिणाम बताया गया है—चित्त की स्थिरता, शान्ति और स्वस्थता। शुद्धि से सर्व—हितकारी भावनायें उदित होती हैं, शान्ति से सामर्थ्य और स्वाधीनता आती है और चित्त की स्वस्थ दशा में न शान्ति भंग होती है और न अशुद्धि आती है। अतः चित्त को जिसमें लगाना चाहिए उसमें लग जाता है और जिससे हटाना चाहिए उससे हट जाता है। प्रत्येक दशा में साधक की शान्ति, निर्भयता एवं प्रसन्नता सुरक्षित रहती है। साधक के साधन और जीवन में एकता हो जाती है। यही मानव जीवन की सार्थकता है, यही साधक की सिद्धि है।

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता मानवता के प्रेमी एक सन्त हैं,

जिन्होंने जीवन की घटनाओं से चित्त की अशुद्धियों का अध्ययन किया है और अपने अनुभूत प्रयोगों के आधार पर चित्त-शुद्धि के साधनों का प्रतिपादन किया है। आपके विचारों ने अद्‌भुत क्रान्ति की है। आपकी पैनी दृष्टि जीवन की समस्याओं की गुह्यतम तह तक पहुँचती है। इसलिए आपके द्वारा प्रतिपादित साधन साधक की समस्याओं का मूलोच्छेद करने में समर्थ हैं। यदि आपने मानव–सेवा–संघ द्वारा प्रकाशित "सन्त समागम", "मानव की माँग", "जीवन दर्शन" आदि पुस्तकें पढ़ी होंगी, तो आप उनकी शैली से पहले से ही परिचित होंगे। "चित्त–शुद्धि" भी उन्हीं की पवित्र वाणी द्वारा अभिव्यक्त विचारों का संग्रह है। सत्य के साथ किसी व्यक्ति विशेष का नाम जोड़ना उनके सिद्धान्त से उचित नहीं है। इसी कारण उनके द्वारा रचित पुस्तकों में उनका नाम नहीं दिया जाता। साधक–समाज की उलझनों से व्यथित इन महामानव को स्वतः जो प्रकाश मिला है, वह आपके आगे "चित्त–शुद्धि" के रूप में प्रस्तुत है। इसमें प्रतिपादित चित्त की अशुद्धि का मूल कारण, शुद्धि के मुख्य साधन और उनका परिणाम मुझे अत्यन्त उपयोगी और आशाजनक मालूम होते हैं। यह हम सबके लिए कल्याणकारी हों, इसी सद्‌भावना के साथ–

मानव सेवा संघ आश्रम
वृन्दावन
दिनांक : ६–३–५८

विनीता :
देवकी

विषय—सूची

१

अशुद्धि क्या ?

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की शुद्धि का भले ही किसी को ज्ञान न हो, पर चित्त की अशुद्धि का तो ज्ञान मानव–मात्र को है; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। विचार यह करना है कि हमारी अपनी दृष्टि में अपने चित्त में क्या अशुद्धि प्रतीत होती है। जब हम अपने चित्त को अपने अधीन नहीं पाते हैं तब यह भास होता है कि चित्त में कोई दोष है। यदि हमारा चित्त हमारे अधीन होता, तो हम चित्त के लगाने तथा हटाने में अपने को सर्वदा स्वाधीन पाते। पर ऐसा करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं हमारी असमर्थता ही हमें यह बता देती है कि हमारे चित्त में कोई अशुद्धि है।

किसी में अस्वाभाविकता का आ जाना ही अशुद्धि है। इस दृष्टि से हमें अनुभूति के आधार पर यह जान लेना है कि हमारे चित्त में क्या अस्वाभाविकता आ गई है, जिससे हम अपने चित्त को अपने अधीन नहीं रख पाते हैं। संकल्पों की उत्पत्ति तथा पूर्ति को ही हम अपना जीवन मान बैठे हैं। यद्यपि संकल्पों की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और संकल्प–पूर्ति के पश्चात् भी जीवन है; परन्तु हम उस स्वाभाविक जीवन की ओर ध्यान नहीं देते और संकल्प की उत्पत्ति तथा उसकी पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं, यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वाभाविकता के प्रभाव से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। इस दृष्टि से संकल्पों की उत्पत्ति–पूर्ति में ही जीवन–बुद्धि स्वीकार करना और संकल्पों से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत न होना ही चित्त की अशुद्धि है।

संकल्पों की उत्पत्ति जिसमें होती है और उनकी पूर्ति जिन साधनों से होती है, उन दोनों का जो प्रकाशक है अथवा जिससे उन

दोनों को सत्ता मिलती है, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार न करना अनुभूति का विरोध है, और संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, यह निज अनुभूति का अनादर करना है। इस भूल से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। अब विचार यह करना है कि संकल्पों की उत्पत्ति का उद्गम स्थान क्या है और उन संकल्पों की पूर्ति जिन साधनों से होती है, उनका स्वरूप क्या है ? जिन मान्यताओं से किसी न किसी प्रकार के भेद की उत्पत्ति होती है, उन मान्यताओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार करने पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है और जिन वस्तुओं से संकल्पों की पूर्ति होती है, वे सभी वस्तुएँ पर-प्रकाश्य हैं, परिवर्तनशील हैं और उत्पत्ति-विनाशयुक्त हैं। इसी कारण संकल्प-पूर्ति का सुख संकल्प-उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। उत्पत्ति-पूर्ति का क्रम सतत चलता रहता है। उससे तद्रूप होकर प्राणी अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध होकर दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति से अतीत के जीवन पर विश्वास हो जाय अथवा उसका अनुभव हो जाय तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिर-विश्राम पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन में सभी किसी-न-किसी प्रकार का अभाव अनुभव करते हैं। यही समस्या इस जीवन से अतीत के जीवन की ओर प्रेरित करती है। वह प्रेरणा जिसका प्रकाश है उसकी सत्ता स्वीकार करना और संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन को केवल राग निवृत्ति का साधन मानना चित्त की अशुद्धि मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का जीवन अभाव रूप है और उससे अतीत का जीवन भावरूप है। अभाव का प्रकाशन भावरूप सत्ता से ही होता है। यदि अभाव की अनुभूति को वास्तविक जीवन की लालसा मान लिया जाय, तो अभाव की अनुभूति भी वास्तविक जीवन की ओर अग्रसर करने में हेतु बन जाती है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का जीवन वास्तविक जीवन का साधन-मात्र है और कुछ नहीं। अतः संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति को ही जीवन स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध रखना है। यद्यपि इस

स्वीकृति में निज-अनुभूति का विरोध है, फिर भी उसका प्रभाव चित्त पर अंकित रहना चित्त की अशुद्धि का स्वरूप है।

इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि जो जीवन में दिखाई देती है वह ऐसी वस्तु नहीं है कि मिट न सके। अवश्य मिट सकती है। पर कब ? जब संकल्प–पूर्ति के सुख का महत्त्व न रहे, अपितु उसमें पराधीनता का दर्शन हो और संकल्प-अपूर्ति का क्षोभ भयभीत न कर सके। संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प अपूर्ति का भय मिट जाने पर संकल्प–उत्पत्ति–पूर्ति के जीवन से तद्रूपता नहीं रहती है। तद्रूपता के मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध होने लगता है। पर चित्त इतनी गहरी खाई है कि उसके शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ होते समय भुक्त–अभुक्त संकल्पों के प्रभाव से प्रेरित होकर संकल्पों का प्रवाह चलने लगता है। उसे देखकर साधक भयभीत हो जाता है और स्वयं अपने आप अपनी तथा चित्त की निन्दा करने लगता है। यद्यपि चित्त निन्दनीय नहीं है, उसमें जो भुक्त–अभुक्त संकल्पों का प्रभाव अंकित हो गया है वही त्याज्य है, जो चित्त के शुद्ध होते समय मिटने के लिए स्वयं प्रकट होता है। पर साधक भयभीत होकर उसे दबाने का प्रयास करता है अथवा सुखद मनोराज्य का मिथ्या रस लेने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह प्रभाव स्थिर हो जाता है, मिट नहीं पाता और साधक चित्त–शुद्धि से निराश होने लगता है। अनेक प्रकार की युक्तियों से, प्रमाणों से इस धारणा को पुष्ट कर लेता है कि भला हमारा चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है, जो स्वभाव से ही चंचल है। पर ऐसी बात नहीं है कि चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त स्वभाव से ही शुद्धि की ओर गतिशील होता है। इसी कारण चित्त में चंचलता प्रतीत होती है। जब उसे अपना अभीष्ट रस–प्रसन्नता तथा जीवन–मिल जाता है, तब वह सदा के लिए शुद्ध, शान्त एवं स्वस्थ हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त हमारा हितैषी है, विरोधी नहीं। उसकी निन्दा करना अपने प्रति घोर अन्याय है। चित्त–शुद्धि की जिज्ञासा तथा लालसा उत्तरोत्तर सबल तथा स्थायी रहनी चाहिए। उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए; अपितु चित्त–शुद्धि के लिए नित–नव

उत्कंठा तथा उत्साह बढ़ता रहना चाहिए। यह नियम है कि उत्साह तथा उत्कंठा में एक अपूर्व रस है और रस चित्त को स्वभाव से ही प्रिय है। ज्यों-ज्यों उस रस की वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों चित्त का मनोराज्य गलता जाता है, जिसके गलते ही चिरविश्रान्ति स्वतः आ जाती है, जो सभी को अभीष्ट है।

संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प-उत्पत्ति के दुःख के भय से मुक्त होने के लिए यह जान लेना अनिवार्य है कि संकल्प क्या है ? वस्तुओं की सत्यता, सुन्दरता एवं सुख-रूपता का आकर्षण ही संकल्प का स्वरूप है, अथवा यों कहो कि अपने से वस्तुओं का अधिक महत्त्व स्वीकार करना संकल्पों में आबद्ध होना है। अतः संकल्परहित होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी वस्तुओं से अपने को विमुख कर लिया जाय। वस्तुओं से विमुख होते ही वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती, कारण, कि वस्तुओं की असंगता प्राणी को निर्लोभी बना देती है। निर्लोभता के आते ही वस्तुओं का मूल्य घट जाता है और फिर वस्तुओं की दासता शेष नहीं रहती। वस्तुओं की दासता मिटते ही भोग की रुचि स्वतः ही मिट जाती है और योग की लालसा जाग्रत होती है।

अब विचार यह करना है कि वस्तु का स्वरूप क्या है ? वस्तु उसे कहते हैं जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो, परिवर्तनशील एवं पर-प्रकाश्य हो। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं के अर्थ में आ जाते हैं। इतना ही नहीं, जिसे हम सृष्टि कहते हैं, वह भी एक वस्तु ही है, क्योंकि सृष्टि, अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती। हम भले ही किसी वस्तु से ममता करें, पर वस्तु कभी अपनी ओर से हमें अपना नहीं कहती। इस दृष्टि से वस्तुओं से हमारी भिन्नता है, एकता नहीं। जिससे एकता नहीं है उसे अपना मान लेना, उसकी दासता में आबद्ध होना है और कुछ नहीं। वस्तुओं की दासता ने ही हमें संकल्पों की उत्पत्ति और पूर्ति के जीवन से तद्रूप कर दिया है। प्राणी वस्तुओं से ममता भले ही बनाये रखे, पर उनका वियोग तो स्वभाव से ही हो जाता है। अतः

वस्तुओं के रहते हुए ही हमें उनसे असंग हो जाना चाहिए, तभी लोभ–मोह आदि दोषों की निवृत्ति हो सकती है, जिसके होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि संकल्प तथा वस्तु में सम्बन्ध क्या है ? वस्तुओं से संकल्प की उत्पत्ति होती है अथवा संकल्प में वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं ? यदि कोई कहे कि वस्तुओं से संकल्प की उत्पत्ति होती है, तो संकल्प बिना वस्तुओं की प्रतीति कैसे हुई ? और यदि कोई यह कहे कि संकल्प से वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, तो संकल्प–अपूर्ति का प्रश्न ही जीवन में क्यों आया ? अतः न तो वस्तुओं से संकल्प की उत्पत्ति सिद्ध होती है और न संकल्प से ही वस्तुओं की। परन्तु प्राणी संकल्प के द्वारा ही वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता हो। इस दृष्टि से संकल्प तथा वस्तुओं में किसी न किसी प्रकार की एकता ओर भिन्नता अवश्य है। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा नें संकल्प को जन्म दिया और संकल्प–पूर्ति ने वस्तु को महत्त्व प्रदान किया।

अब विचार यह करना है कि वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा का जन्म कैसे हुआ ? शरीररूपी वस्तु में अहम्–बुद्धि हो जाने पर वस्तुओं की कामना स्वतः उत्पन्न होती है; क्योंकि शरीर और सृष्टि के गुणों की भिन्नता और स्वरूप की एकता है। इसी कारण शरीर से तद्रूप होने पर सृष्टि से सुख की आशा उत्पन्न होती है। शरीर की तद्रूपता न तो वस्तु है और न संकल्प, अपितु अविवेक है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अविवेक से ही संकल्प और वस्तु में सम्बन्ध की स्थापना हुई। विवेकपूर्वक शरीर से तद्रूपता मिट जाने पर संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती। संकल्पों की निवृत्ति होते ही सुख–दुःख से अतीत, शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही भोक्ता, भोग की रुचि और भोग्य वस्तुएँ–इन तीनों का भेद मिट जाता है, क्योंकि भोक्ता से भिन्न भोग की रुचि और भोग की रुचि के बिना भोग्य वस्तु की प्रतीति ही सम्भव नहीं है,

अथवा यों कहो कि भोग की रुचि का जो समूह है उसमें जिसने अहम्-बुद्धि को स्वीकार किया, उसी को भोक्ता कह सकते हैं। भोक्ता में ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है और संकल्पों की उत्पत्ति ही भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। संकल्प की उत्पत्ति जिन भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देती है, उन वस्तुओं का अस्तित्व क्या है ? ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसकी प्राप्ति अप्राप्ति में स्वतः न बदल जाय। अप्राप्ति उसी की हो सकती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का हो सकता है, जिससे वस्तुओं की उत्पत्ति हो और जिसमें वस्तुएँ विलीन हों। वस्तुओं की उत्पत्ति के मूल में जो अनुत्पन्न–तत्त्व है, उसी की स्वतन्त्र सत्ता हो सकती है। उस स्वतन्त्र सत्ता को जो स्वीकार कर लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं से असंग होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। वस्तुओं से संग की स्थापना कब हुई थी, इसका ज्ञान सम्भव नहीं है; किन्तु वस्तुओं से असंगता हो सकती है। इससे यह मान ही लेना पड़ता है कि वस्तुओं का संग स्वीकार किया गया है और उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त अशुद्ध हो गया है, जिसके होने से जीवन पराधीनता, जड़ता आदि दोषों में आबद्ध हो गया है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। इसी कारण चित्त–शुद्धि का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसे वर्तमान में ही हल करना है। वह तभी सम्भव होगा, जब संकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति के द्वन्द्वात्मक सुख–दुःख–युक्त जीवन से अतीत के जीवन को प्राप्त करें, जो विवेक–सिद्ध है।

३–५–५६

२

अशुद्धि के कारण की खोज

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

सर्वांश में चित्त कभी भी अशुद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता हो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इससे यह समझ लेना चाहिए कि चित्त में जो अशुद्धि भासती है वह उनके किसी अंशमात्र में है। जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि को जानते हैं, उसी ज्ञान में चित्त को शुद्ध करने की सामर्थ्य निहित है। पर कब ? जब चित्त की अशुद्धि के कारण की खोज की जाय। चित्त–शुद्धि की उत्कट लालसा अशुद्धि के कारण की खोज करने में समर्थ है। कारण, कि शुद्धि की लालसा अशुद्धिजनित सुख की रुचि को खा लेती है। उसके मिटते ही अशुद्धि का कारण स्पष्ट विदित हो जाता है, जिसके होते ही अशुद्धि का कारण स्वतः मिटने लगता है और उसके मिटते ही चित्त–शुद्ध हो जाता है। अतः चित्त की शुद्धि से किसी को निराश नहीं होना चाहिए और न हार स्वीकार करनी चाहिए, अपितु चित्त–शुद्धि की उत्कट लालसा को सबल तथा स्थायी बनाना चाहिए।

यह नियम है कि जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि का कारण विदित होता है वह नित्य है, स्वाभाविक है, भौतिक दृष्टि से प्राकृतिक विकास है, अध्यात्म–दृष्टि से अपने ही स्वरूप की महिमा है और आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति है। हमें उस ज्ञान का आदर करना चाहिए, क्योंकि वही हमारा वास्तविक पथ–प्रदर्शक है। इतना ही नहीं, उसे तो निज की ही सम्पत्ति समझना चाहिए, अर्थात् उससे अत्यन्त आत्मीयता हो, उसका कभी भी विरोध न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त–शुद्धि की साधना में सफलता प्राप्त हो जाती है।

संकल्प–पूर्ति का सुख जड़ता उत्पन्न करता है और नवीन

संकल्पों की पुनरावृत्ति की प्रेरणा देता है, अर्थात् जिन संकल्पों की पूर्ति अनेक बार हो चुकी है, उनकी वास्तविकता का परिचय नहीं होने देता, अपितु संकल्प–पूर्ति के सुख का राग ही उत्पन्न कर पराधीन बना देता है, जिससे प्राणी परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं हो पाता, किसी न किसी परिस्थिति का आह्वान ही करता रहता है। परन्तु जब संकल्प–अपूर्ति का चित्र सामने आता है और उसकी पूर्ति से प्राणी को निराशा होने लगती है, तब संकल्प–पूर्ति से उत्पन्न हुई जड़ता मिटने लगती है और एक नवीन चेतना उदित होती है। यद्यपि संकल्प–अपूर्ति की घड़ियाँ बड़ी ही दुःखद प्रतीत होती हैं, किन्तु उसी से वास्तविक जीवन की ओर गतिशील होने के लिए प्रकाश मिलता है। इस दृष्टि से संकल्प–अपूर्ति की वेदना भी जीवन का एक आवश्यक अंग है। साधक को उससे भयभीत नहीं होना चाहिए।

संकल्प–पूर्ति का सुख साधन–पथ में अग्रसर होने वाले साधक के लिए विश्राम का क्षण है। उसी को जीवन मान कर ठहरना नहीं चाहिए। विश्राम का क्षण सुखद है, इसमें सन्देह नहीं है और वास्तविक उद्योग की सामर्थ्य के लिए उसकी आवश्यकता भी है, जिससे साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। संकल्प-अपूर्ति की वेदना संकल्प–पूर्ति के सुख से मुक्त करके साधक को अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नवीन स्फूर्ति प्रदान करती है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति तथा अपूर्ति दोनों में ही उस अनन्त का मंगलमय विधान निहित है।

यद्यपि संकल्प–पूर्ति का सुख सभी को प्रिय होता है और संकल्प–अपूर्ति का दुःख किसी को भी अभीष्ट नहीं है, परन्तु संकल्प–पूर्ति का वह अंश जो संकल्प–पूर्ति की वास्तविकता का परिचय देने में समर्थ होता है, साधक के लिए हितकर है, अर्थात् संकल्प–पूर्ति में कितना सुख है, इसका बोध हो जाता है। पर यदि उसी को जीवन मान लिया जाय, तो संकल्प–पूर्ति से जड़ता आ जाती है; क्योंकि जिन वस्तुओं से संकल्प पूरा होता है उनसे तादात्म्य हो जाता है और उनका महत्त्व इतना बढ़ जाता है कि

वस्तुओं से अतीत भी कोई जीवन है, इसकी चेतना नहीं रहती। उस जड़ता का नाश संकल्प–अपूर्ति की वेदना से होता है। इस दृष्टि से संकल्प–अपूर्ति बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। पर असावधानी के कारण यदि साधक संकल्प–अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाय, तो वह बेचारा संकल्प–पूर्ति की दासता में आबद्ध हो जाता है। अतः बड़ी ही सावधानीपूर्वक इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संकल्प–अपूर्ति से वेदना चाहे जितनी हो; पर संकल्प–पूर्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। संकल्प–पूर्ति से निराशा आ जाने पर वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत होती है, जो संकल्प–पूर्ति के राग को खा जाती है, और जिसके बाद जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

संकल्प–उत्पत्ति किसी अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति में असन्तोष उत्पन्न कर देती है। ऐसी दशा में या तो किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान होने लगता है अथवा सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की लालसा जाग्रत होती है। जिन संकल्पों से किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान होने लगता है, वे संकल्प अशुद्ध हैं और त्याज्य हैं; क्योंकि वे जड़ता तथा पराधीनता की ओर ले जाते हैं और जो संकल्प सभी अवस्थाओं के अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करते हैं, वे शुद्ध संकल्प हैं। यह नियम है कि अशुद्ध संकल्प मिट जाने पर शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं।

अशुद्ध संकल्पों के त्याग में शुद्ध संकल्पों की पूर्ति की सामर्थ्य निहित है और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख के त्याग में निर्विकल्प होने की सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता आ जाने पर सुख–दुःख गल कर चिरशान्ति में विलीन हो जाते हैं और चित्त की अशुद्धि स्वतः मिटने लगती है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग से चित्त–शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अशुद्ध संकल्पों के त्याग से उन शुद्ध संकल्पों की पूर्ति स्वतः हो जाती है, जिनका

राग संकल्प–पूर्ति के बिना मिट ही नहीं सकता। अनावश्यक संकल्प शुद्ध ही क्यों न हो; पर वे परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में बाधक होते हैं; क्योंकि अनावश्यक संकल्पों से प्राप्त शक्ति का ह्रास हो जाता है। जो शक्ति शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के लिए मिली थी, वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से अनावश्यक संकल्पों का त्याग अनिवार्य है। अशुद्ध संकल्पों से अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जो कर्त्तव्य–परायणता से तो विमुख कर ही देता है, साथ ही अवनति की ओर भी ले जाता है, अर्थात् वर्तमान वस्तुस्थिति से भी गिरावट की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध और अनावश्यक, दोनों ही प्रकार के संकल्प त्याज्य हैं।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग का उपाय क्या है ? आवश्यक संकल्पों को परिस्थितियों के अनुसार, पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रख कर कर्त्तव्य–बुद्धि से पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक संकल्प वही है जिसको पूरा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसको बिना पूरा किए हम किसी भी प्रकार रह न सकें और जिसके पूरे होने में किसी का अहित न हो। इस दृष्टि से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में साधक परतन्त्र नहीं है। आवश्यक संकल्प पूरे हो जाने पर विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही अशुद्ध संकल्प स्वतः मिट जाते हैं। अतः बड़ी ही तत्परतापूर्वक आवश्यक संकल्प पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में प्राकृतिक विरोध नहीं है। असावधानी और आलस्य के कारण ही आवश्यक संकल्प पूरे नहीं होते, तब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उठने लगते हैं, जो प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास तथा दुरुपयोग कराने में हेतु बन जाते हैं, जिससे चित्त में उत्तरोत्तर अशुद्धि ही वृद्धि पाती है। इस दृष्टि से आवश्यक संकल्पों का पूरा करना अत्यन्त आवश्यक है।

शुद्ध तथा आवश्यक संकल्प की पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ होते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों का प्रवाह बड़े ही वेग से उठने लगता है। साधक उसे देख भयभीत हो जाता है और बलपूर्वक उस

प्रवाह को मिटाने का उद्योग करने लगता है। पर बेचारा सफल नहीं होता। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि संकल्पों का जो प्रवाह उठ रहा है, उससे असहयोग कर लिया जाय। वह तभी सम्भव होगा जब साधक को यह विश्वास हो जाय कि भुक्त—अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव से ही दबे हुए संकल्प मिटने के लिए उठ रहे हैं, यह नवीन संकल्पों की उत्पत्ति नहीं है। संकल्प—पूर्ति—अपूर्ति के सुख—दुःख का जो भोग है, उसी से भुक्त—अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव चित्त में अंकित हुआ है। जब साधक चित्त—शुद्धि की साधना में प्रवृत्त होता है, तब चित्त में स्वतः एक स्फूर्ति आती है, जिससे अंकित प्रभाव मिटने के लिए प्रकट होने लगता है। पर साधक इस रहस्य को बिना जाने बलपूर्वक संकल्पों के उस प्रवाह को रोकने लगता है। इतना ही नहीं, वह अशुद्ध संकल्पों से भयभीत होकर चित्त की निन्दा करने लगता है और शुद्ध संकल्पों का सुख भोगने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो दबी हुई अशुद्धि मिट रही थी, वह ज्यों—की—त्यों अंकित रह जाती है। ऐसी दशा में साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक चित्त—शुद्धि के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। उससे निराश नहीं होना चाहिए, अपितु प्रयत्नशील बने रहने के लिए नित—नव उत्कंठा तथा उत्साह बढ़ना चाहिए।

प्राकृतिक नियम के अनुसार ऐसी कोई अशुद्धि है ही नहीं जो स्वतः न मिट जाय। पर अशुद्धि—जनित जो सुख है उसका त्याग हम नहीं करते, इस कारण अशुद्धि की पुनरावृत्ति होती रहती है। यदि अशुद्धि की स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार की जाय और अशुद्धि—जनित जो सुख है उसको न अपनाया जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक अशुद्धि सदा के लिए मिट जाती है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही तब होता है जब चित्त—शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। अतः चित्त की अशुद्धि को जानकर यह नहीं समझना चाहिए कि चित्त—शुद्ध नहीं हो रहा है; क्योंकि चित्त की एकाग्रता की साधना करते समय ही चित्त की चंचलता का बोध

होता है और चित्त को निर्मल करते समय ही उसकी मलिनता भासती है। चित्त की चंचलता तथा मलिनता का बोध चित्त की एकाग्रता तथा निर्मलता का साधन है; क्योंकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारों का बोध होता है, उसी ज्ञान में चित्त को निर्विकार बनाने की सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि वह ज्ञान जिसकी देन है वह सर्व—समर्थ है।

अपनी—अपनी धारणा के अनुसार कोई उस ज्ञान को भौतिक विकास मान कर, कर्त्तव्यपरायण होकर, अशुद्धि का अन्त कर देता है। कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को मिटाकर विश्राम प्रदान करती है, जिससे चित्त स्वतः शान्त, स्वस्थ तथा शुद्ध हो जाता है; क्योंकि विश्राम मिलने पर आवश्यक शक्ति का स्वतः विकास होता है, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है। कोई उस ज्ञान को निज—विवेक का प्रकाश मान कर अविवेक—जनित अशुद्धि का अन्त करने में समर्थ होता है, कारण, कि विवेक असंगता प्रदान करता है। असंगता प्राप्त होते ही चिरशान्ति स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि शान्ति सब प्रकार की सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। अतः विवेकी का चित्त बड़ी ही सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है। कोई उस ज्ञान को अनन्त की अहैतुकी कृपा—शक्ति मानता है और उसी का आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है। अतः उसे यह विश्वास हो जाता है कि अनन्त की कृपा—शक्ति स्वतः चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ बना रही है।

४—५—५६

३

सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

ज्यों–ज्यों चित्त में शुद्धता आती जाती है, त्यों–त्यों सामर्थ्य का विकास अपने आप होता है, क्योंकि शुद्धि में शान्ति और शान्ति में सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। यदि सामर्थ्य का सदुपयोग केवल संकल्प–पूर्ति, अर्थात् सुख–भोग के लिए किया जाय, तो पराधीनता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे, जो चित्त की शुद्धि में बाधक होंगे। इसलिए सामर्थ्य का उपयोग संकल्प–पूर्ति–मात्र में ही नहीं करना चाहिए, क्योंकि संकल्प–पूर्ति से जितना सुख मिलता है, उससे कहीं अधिक शान्ति संकल्प–निवृत्ति से प्राप्त होती है। सुख और शान्ति में एक बड़ा अन्तर है–सुख प्राणी को पराधीनता, जड़ता, मृत्यु एवं आसक्ति की ओर ले जाता है और शान्ति उसे स्वाधीनता, चिन्मयता, अमरत्व एवं प्रेम की ओर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से सुख की अपेक्षा शान्ति कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। वह तभी सुरक्षित रह सकती है, जब संकल्पों की पूर्ति के सुख को अधिक महत्त्व न दिया जाय। जब संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता नहीं रहती, तब संकल्प–उत्पत्ति तथा अपूर्ति का दुःख स्वयं निर्जीव हो जाता है। इस प्रकार सुख–दुःख का प्रभाव मिटते ही जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रंत होती है। यदि साधक शान्ति में रमण करने लगे तो जिज्ञासा तथा लालसा दब जायेंगी। जिज्ञासा तथा लालसा में शिथिलता आते ही किसी न किसी प्रकार का संकल्प उत्पन्न हो जायगा, जिससे शान्ति भंग हो जायगी। अतः उसे संकल्पों की अपूर्ति के दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिए, उनकी पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होना चाहिए और उनकी निवृत्ति की शान्ति में रमण नहीं करना चाहिए।

चित्त में अशुद्धि सामर्थ्य के दुरुपयोग से आती है और शुद्धि

स्वाभाविक है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का आरम्भ कब हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। पर यदि सामर्थ्य का दुरुपयोग न किया जाय, तो चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः सामर्थ्य का दुरुपयोग ही चित्त की अशुद्धि में हेतु है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। अब यदि कोई यह कहे कि हम तो असमर्थ हैं, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्वांश में असमर्थता किसी भी व्यक्ति में नहीं होती और यदि उसे असमर्थ स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी यह तो मानना ही होगा कि असमर्थता से किसी प्रकार का अहित नहीं हो सकता, अर्थात् असमर्थता से अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं हो सकता। असमर्थ प्राणी तो स्वतः ही उस पर निर्भर हो जाता है जो सर्वसमर्थ है। इस दृष्टि से असमर्थता से चित्त अशुद्ध नहीं होता, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही चित्त अशुद्ध होता है। कर्त्तव्य–पालन में असमर्थता की बात मन में तभी आती है, जब हम प्राप्त सामर्थ्य का व्यय सुख–भोग में करने लगते हैं। असमर्थता के कारण हमारा चित्त अशुद्ध हो गया, यह बात किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं है। असमर्थता–काल में जो निर्भरता प्राप्त होती है, वही सामर्थ्य के सदुपयोग से भी प्राप्त होती है, क्योंकि सामर्थ्य के सदुपयोग से सामर्थ्य का अभिमान गल जाता है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि में असमर्थता और सामर्थ्य के सदुपयोग का समान स्थान है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के सदुपयोग और दुरुपयोग का अर्थ क्या है ? स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व से विमुख होकर वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के द्वारा सुखभोग में सामर्थ्य का व्यय करना ही उसका दुरुपयोग है। ऐसा करने से प्राणी जड़ता, पराधीनता एवं मृत्यु आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, सुख–भोग से प्रमाद, हिंसा आदि विकार स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अपना अकल्याण और समाज का अहित होने लगता है। और यदि प्राप्त सामर्थ्य से किसी का अहित न हो, हमारी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो, अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नहीं है

उस पर निर्भर न हो, तो यह सामर्थ्य का सदुपयोग है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त सामर्थ्य किसी असमर्थ की धरोहर है। वह किसी के काम आनी चाहिए, अर्थात् सर्व—हितकारी प्रवृत्ति में ही सामर्थ्य का सद्व्यय है। सामर्थ्य का सदुपयोग होते ही हिंसा जैसा भयंकर दोष स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्नेह की एकता अपने आप आ जाती है। स्नेह की एकता से भेद गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकार के भय और संघर्ष मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चिर—शान्ति की स्थापना स्वतः हो जाती है, जिसमें अपना कल्याण तथा सभी का हित निहित है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के दुरुपयोग में हमारी प्रवृत्ति ही क्यों होती है ? संकल्प—अपूर्ति का जो दुःख है, उसे हम हर्ष पूर्वक सहन नहीं कर पाते और यह भूल जाते हैं कि संकल्प—अपूर्ति में भी हित है। संकल्प—पूर्ति को ही सब कुछ मान बैठते हैं, इसी कारण सामर्थ्य के दुरुपयोग में प्रवृत्ति होती है। यद्यपि संकल्प—पूर्ति में वस्तु, व्यक्ति आदि का ही महत्त्व बढ़ता है, जिससे चित्त में लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, फिर भी संकल्प—पूर्ति को ही महत्त्व देकर प्राणी चित्त को अशुद्ध करता रहता है।

अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प—पूर्ति भी तो जीवन का एक आवश्यक अंग है, क्योंकि कुछ संकल्प ऐसे भी तो उठते हैं कि जिनका पूरा होना अनिवार्य है। जिन संकल्पों का पूरा होना अनिवार्य है, वे तो प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः पूरे हो जाते हैं। जो संकल्प स्वतः पूरे होते हैं, यदि उनकी पूर्ति के सुख में हम अपने को आबद्ध न करें, तो संकल्पों की पूर्ति भी संकल्प—निवृत्ति का साधन बन जाती है। अतः संकल्प भले ही पूरे हों, पर उनकी पूर्ति का महत्त्व चित्त में अंकित न हो, तो बड़ी सुगमता पूर्वक अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही संकल्प—पूर्ति—अपूर्ति में कोई भेद ही नहीं रहता और साधक उस जीवन का अधिकारी हो जाता है, जो संकल्प—उत्पत्ति तथा पूर्ति से पूर्व है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है। इस दृष्टि से संकल्प—पूर्ति का जीवन में स्थान भले ही हो, पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस रहस्य को जान

लेने पर साधक बड़ी सुगमतापूर्वक संकल्प–पूर्ति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

संकल्प–पूर्ति के प्रभाव से मुक्त होते ही सभी परिस्थितियों से अपना महत्त्व बढ़ जाता है, अर्थात् वस्तु आदि की दासता मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं, जिससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। परन्तु यदि साधक उन गुणों का उपभोग करने लगे तो परिच्छिन्नता में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है, अर्थात् उसका अहम्–भाव पुष्ट हो जाता है। यद्यपि अहम्–भाव का महत्त्व परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है, परन्तु यदि उसी को जीवन मान लिया जाय, तो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं, जिनके होते ही चित्त में राग–द्वेष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस दृष्टि से अहम् का महत्त्व चित्त को अशुद्ध ही करता है। जैसे कोई सारी नदी को पारकर किनारे पर आकर डूब जाय, वही दशा उस साधक की होती है, जो परिस्थितियों की दासता से मुक्त हो अहम्–भाव की पूजा में लग जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधन–प्रणालियों में, विचारधारा में जो महानता होती है, जिससे साधक को सिद्धि मिलती है, जो आदरणीय है, उसमें जब अहम्–भाव की छाप लग जाती है, तब अहम्–भाव के दोष उन पद्धतियों में आ जाते हैं और पद्धतियों की महानता के आधार पर साधकों में मिथ्या अभिमान आ जाता है, जिसके आते ही स्नेह की एकता मिट जाती है। उसके मिटते ही संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और साधक–गण अपनी–अपनी पद्धतियों के नाम लेकर उनकी महिमा गाते रहते हैं। पर पद्धति और जीवन में इतनी भिन्नता हो जाती है कि जिस पद्धति की वे महिमा गाते हैं, उसका घोर विरोध उन्हीं के जीवन द्वारा स्वतः होने लगता है। अर्थात् जो कहते हैं, जो मानते हैं और उसका प्रचार करते हैं उसका प्रभाव उनके जीवन में लेशमात्र भी नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क तथा हृदय में सन्तुलन नहीं रहता, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अहम् का पुजारी साधक, पद्धति और जीवन में भेद होने पर भी पद्धति के नाम पर

अपने प्राण तक दे देता है, पर दूसरों के द्वारा अपनी पद्धति का विरोध नहीं सहन कर सकता। अर्थात् अपनी पद्धति के प्रति उसकी इतनी आसक्ति हो जाती है कि वह दूसरी पद्धतियों का अनादर करता है और अपनी पद्धति का अनुसरण स्वयं नहीं कर पाता, पर दूसरे से अपनी पद्धति मनवाने के लिए जो नहीं करना चाहिए वह भी करता है। यह पद्धतियों की आसक्ति का परिणाम है, जिसका जन्म चित्त की अशुद्धि से हुआ है।

यद्यपि प्रत्येक पद्धति किसी न किसी साधक के लिए हितकर अवश्य है। परन्तु ऐसी कोई पद्धति हो ही नहीं सकती जो सर्वांश में सभी के लिए हितकर सिद्ध हो, क्योंकि पद्धति की उत्पत्ति व्यक्ति की योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति आदि से होती है। सर्वांश में समान योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति दो व्यक्तियों की भी नहीं होती, तो फिर किसी पद्धति को इतना महत्त्व देना कि उसे सभी मानलें, यह उस पद्धति के समर्थक के अहम्—भाव का विकार है। इस कारण जब तक अहम्—भाव रूपी अणु न तोड़ दिया जाय, तब तक न तो चित्त ही शुद्ध हो सकता है और न दिव्य-चिन्मय जीवन से ही अभिन्नता हो सकती है। अतः चित्त—शुद्धि के लिए जहाँ संकल्प—पूर्ति के महत्त्व का विरोध है, वहाँ अहम्—भाव के महत्त्व का भी घोर विरोध है। अहम् को महत्त्व देना अनन्त से विमुख होना है और चित्त को अशुद्ध करना है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए किसी को भी न तो चिर—शान्ति तथा सामर्थ्य मिल सकती है और न अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से चित्त—शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब अहम् अनन्त को समर्पित कर दिया जाय। उसके लिए साधक को संकल्प की पूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से अतीत के जीवन पर अविचल विश्वास करना अनिवार्य है।

५—५—५६

४

व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त अशुद्ध होता है। गुणों का अभिमान शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में, दो वर्गों में, दो सम्बन्धियों में, दो दलों में परस्पर किसी न किसी प्रकार का भेद अवश्य उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, जिज्ञासा की अपूर्ति और कामना की उत्पत्ति में भी गुणों के अभिमान से उत्पन्न भेद ही हेतु है। प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच में यदि कोई दूरी उत्पन्न करता है, तो वह गुणों का अभिमान ही है। इस दृष्टि से गुणों के अभिमान का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अर्थात् वह सर्वथा त्याज्य है।

यह नियम है कि गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त में किसी न किसी प्रकार की अशुद्धि अवश्य आ जाती है, क्योंकि गुणों के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ता है और सीमित प्रीति से द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे वैर–भाव उत्पन्न हो जाता है, जो समस्त संघर्षों का मूल है। यद्यपि व्यक्ति समाज के अधिकारों का पुञ्ज है और कुछ नहीं। परन्तु व्यक्तित्व की दासता साधक को अधिकार–लालसा में आबद्ध कर देती है, जिससे वह बेचारा दीन हो जाता है। वह अपनी प्रसन्नता दूसरों के कर्त्तव्य तथा उदारता पर ही निर्भर कर लेता है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गई, तो राग में आबद्ध हो जाता है और यदि अधिकार की पूर्ति नहीं हुई, तो क्रोध की अग्नि में जलने लगता है। राग और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

राग भोग–वासनाओं में आबद्ध कर देता है और क्रोध से कर्त्तव्य की, स्वरूप की और प्रेमास्पद की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति का अकल्याण होता है और समाज में

असुन्दरता आ जाती है, क्योंकि कर्त्तव्यपरायणता से ही व्यक्ति सत्पथ की ओर अग्रसर हो सकता है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति और समाज दोनों ही की क्षति होती है। कारण, कि कर्त्तव्यपरायणता से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है, जिससे साधक सत्य की खोज करने में समर्थ होता है और कर्त्तव्यपरायणता किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होने देती। जब किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं होता, तब स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है। स्वरूप की विस्मृति देह आदि वस्तुओं से तद्रूप कर देती है, जिससे बेचारा साधक अमरत्व से विमुख हो, मोह में आबद्ध हो जाता है और मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। प्रेमास्पद की विस्मृति अनेक आसक्तियों को उत्पन्न कर देती है, जिससे बेचारा साधक अगाध, अनन्त रस से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से क्रोध का त्याग अनिवार्य है। पर वह तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अधिकार–लालसा से मुक्त हो, दूसरों के अधिकारों की रक्षा में तत्पर बना रहे।

भोग–वासनाओं में आबद्ध प्राणी नित्य–योग से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। कारण कि भोग–वासनाएँ भोगी को भोग में प्रवृत्त कर उसे शक्तिहीन, पराधीन बना देती हैं और जड़ता में आबद्ध कर देती हैं। इस दृष्टि से भोग–वासनाओं को त्याग नित्य–योग प्राप्त करना अनिवार्य है। यह नियम है कि नित्य–योग से चिर–शान्ति तथा सामर्थ्य एवं स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब साधक अधिकार–लालसा से मुक्त हो, राग तथा क्रोधरहित हो जाए। राग तथा क्रोध का अन्त करने के लिए प्राणी को व्यक्तित्व की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान को गलाना ही पड़ेगा। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक पर–दोष–दर्शन से विमुख हो, निज–दोष जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि पर–दोष–दर्शन न करने से निज–दोष का दर्शन

स्वतः हो जाता है। उसके होते ही गुणों का अभिमान गलने लगता है। गुणों का अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि अपनी दृष्टि में कोई भी प्राणी अपने को निन्दनीय नहीं रखना चाहता। यह नियम है कि अपनी दृष्टि में निन्दनीय नहीं रहने पर ही वास्तविक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है और फिर किसी प्रकार के दोष की उत्पत्ति नहीं होती।

गुणों का अभिमान दोषों की भूमि में ही उपजता है, निर्दोषता में नहीं, और दोषों की भूमि पर—दोष—दर्शन से सुरक्षित रहती है। पर—दोष—दर्शन करने वाली दृष्टि सीमित गुणों को महत्त्व देने से ही उत्पन्न होती है। साधक जब दोष—जनित आसक्ति को बलपूर्वक दबाने की चेष्टा करता है, तब किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर अपने अहम्—भाव में सीमित गुणों का आरोप कर देता है। उससे दोष—जनित आसक्ति तो मिट नहीं पाती, प्रत्युत् गुणों का आश्रय लेकर साधक उनके अभिमान में आबद्ध हो जाता है और फिर उसके हृदय और मस्तिष्क में सामंजस्य नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि वह जिसमें चित्त को लगाना चाहता है उसमें लगा नहीं पाता और जिससे हटाना चाहता है उससे हटा नहीं पाता, अथवा यों कहो कि जो करना चाहिए वह कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उसकी रुचि नष्ट नहीं होती। इस भयंकर अवस्था में बेचारा साधक जो करना चाहिए उसके करने का अभिनय—सा करता रहता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी वासना को बलपूर्वक दबाता रहता है, पर मिटा नहीं पाता।

चित्त में इस प्रकार की वासना—जनित दबी हुई अशुद्धि कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है, जिससे भयभीत होकर साधक समझने लगता है कि मैं उन्नति के पथ से च्युत हो गया। पर बात ऐसी नहीं है। गुणों का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। दबे हुए दोष का प्रकट होना दोष नहीं, अपितु निर्दोषता का साधन है। वास्तविक दोष तो अभिमान—युक्त गुण ही हैं, जिन्हें हम प्रमादवश महत्त्व देते रहते हैं। साधक को

अपने में गुणों का भास तभी होता है, जब उसकी दृष्टि दूसरों की निर्बलता पर जाती है। वास्तविक गुणों का प्रादुर्भाव होने पर उनका भास नहीं होता। अतः जब तक गुणों का भास हो, तब तक समझना चाहिए कि गुणों के स्वरूप में कोई दोष है।

यह निर्विवाद सत्य है कि गुणों के अभिमान के आधार पर ही सीमित अहम्–भाव जीवित है और उससे ही कोई भला और कोई बुरा, कोई छोटा और कोई बड़ा, कोई ऊँचा और कोई नीचा भासता है। अहम्–भाव के रहते हुए कामनाओं का नाश नहीं हो सकता, उनके नष्ट हुए बिना निस्सन्देहता नहीं आ सकती और निस्सन्देहता के बिना निर्भयता, समता, मुदिता आदि का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस दृष्टि से सीमित अहम्–भाव का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

अहम्–भाव की पूजा से गुणों का अभिमान सुरक्षित रहता है। अब विचार यह करना है कि अहम्–भाव की पूजा क्या है ? अपने सुख से ही सुखी होना, अर्थात् अपने सम्मान में, अपनी ही ख्याति में, अपने ही प्यार में रमण करते रहना और उसी के लिए ऊपर–ऊपर से गुणों का लेप चढ़ाना, जिससे व्यक्तित्व की पूजा में क्षति न हो, परन्तु अपनी ही दृष्टि में अपने को पूजा के योग्य न पाना, फिर भी दूसरों से पूजा की आशा करना–इसी प्रमाद से अहम्–भाव पोषित होता है।

साधक अपनी दृष्टि में जैसा है, यदि वैसा दूसरों की दृष्टि में रहना चाहता है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक गुणों के अभिमान से मुक्त हो सकता है और सच्चे सम्मान के योग्य बन सकता है। परन्तु ऐसा होने में वह अपने को इस कारण असमर्थ पाता है कि अपने जाने हुए दोषों के त्याग में असावधानी करता है। यह नियम है कि जो अपनी दृष्टि में दोषी है वही दूसरों से निर्दोष कहलाने की आशा करता है, अर्थात् दोष–जनित वेदना को दबाने के लिए दूसरों की दृष्टि में निर्दोष बने रहने का प्रयास करता है और उसी के लिए ऊपर से गुणों का बलपूर्वक भेष बनाता है। बनाया हुआ भेष कभी न कभी

बिगड़ जाता है। यदि साधक अपनी ही दृष्टि में आदर के योग्य बने रहने के लिए प्रयत्नशील रहे, तो अहम्–भाव की दासता तथा गुणों के अभिमान से रहित हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा, जब अपने जाने हुए दोषों का त्याग करने में वह सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि दोषों का त्याग करते ही गुणों का अभिमान स्वतः ही गल जाता है, जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार करना है कि गुण क्या है और दोष क्या है ? दूसरों की ओर से अपने प्रति होने वाले दोष का ज्ञान स्वतः हो जाता है और दूसरों से हम वही आशा करते हैं जो गुण है। कोई भी अपना अनादर, हानि, क्षति नहीं चाहता। सभी आदर और प्यार तथा रक्षा चाहते हैं। जिन प्रवृत्तियों से किसी की क्षति हो, किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी दोष हैं और जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित, लाभ एवं प्रसन्नता हो, वे सभी गुण हैं। गुणों का उपयोग दूसरों के प्रति होता है और उससे अपना विकास स्वतः हो जाता है। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का अहित होता है, उन प्रवृत्तियों से अपना भी अकल्याण ही होता है। यह रहस्य जान लेने पर दूसरों के अहित की कामना सदा के लिए मिट जाती है और सर्व–हितकारी भावना स्वतः जाग्रत होती है। सर्व–हितकारी भावना की भूमि में ही गुण विकास पाते हैं। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। एक ही दोष स्थान–भेद से भिन्न–भिन्न प्रकार का भासता है। सर्वांश में किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं और सर्वांश में किसी भी गुण के अपना लेने पर सभी गुण स्वतः आ जाते हैं। इस दृष्टि से दोषों की निवृत्ति और सद्गुणों की अभिव्यक्ति युगपद् है। सर्वांश में सद्गुणों की अभिव्यक्ति होने पर निरभिमानता आ जाती है, क्योंकि तब दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों से अभिन्नता हो जाती है। यह नियम है कि जिससे अभिन्नता हो जाती है, उसका भास नहीं होता, अर्थात् उसमें अहम्–बुद्धि नहीं होती, अपितु वह जीवन हो जाता है। सर्वांश में सद्गुणों की अभिव्यक्ति जीवन में तभी सम्भव है, जब दबी हुई अशान्ति प्रकट होकर मिट जाय और वास्तविक चिर–शान्ति की

स्थापना हो जाय। शान्ति का भेष बना कर बैठ जाना और भीतर विप्लव उठते रहना, उसे प्रकट न करना, चित्त को अशुद्ध रखना है। अब विचार यह करना है कि ऐसा शान्ति का भेष प्राणी क्यों बनाता है ? दूसरों की दृष्टि में मिथ्या आदर पाने के प्रलोभन से ऊपर से शान्त और भीतर से क्षुभित बना रहता है। दबा हुआ क्षोभ अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है और प्राणी को शक्तिहीन बना देता है, जिससे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं। क्षोभरहित होने के लिए अपने भीतर का चित्र बड़ी ही सावधानी से प्रकाशित करदें, तो क्षोभ मिटने लगता है और जो करना चाहिए उसका बोध हो जाता है, जिससे मानसिक शान्ति सुरक्षित हो जाती है। मानसिक शान्ति सुरक्षित रहने से असमर्थता मिट जाती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करते ही क्षोभ सदा के लिए मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

किसी को क्षुभित न करने में ही क्षोभरहित होना नहीं है, अपितु किसी से क्षुभित न होना और किसी को क्षुभित न करना आ जाय, तभी समझना चाहिए कि क्षोभ से छुटकारा मिल गया। कोई हमें बुरा समझेगा, इस भय से हमें शान्त ही रहना है, अपने क्षोभ को प्रकट नहीं करना है, इस शान्ति का कोई महत्त्व नहीं है। भय रहित शान्ति ही वास्तविक शान्ति है। वह तभी सम्भव है, जब अनुकूलता तथा प्रतिकूलताओं के आक्रमण का प्रभाव ही न हो। बुरा कहलाने का भय और सज्जन कहलाने का प्रलोभन जब तक रहेगा, तब तक चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। यदि बुराई हो, तो उसका त्याग करना है। हमें कोई बुरा न समझे, इससे हम भले हो नहीं जाते, भले तो बुराई के त्याग से ही हो सकते हैं। किसी में सुन्दरता और किसी में असुन्दरता का प्रतीत होना, किसी के प्रति आकर्षण और किसी से विकर्षण उत्पन्न होना, चित्त की अशुद्धि का ही परिणाम है। कारण, कि अपना दोष ही किसी में महत्त्व का दर्शन कराता है और अपने अभिमान से ही किसी में दोष भासता है। निर्दोषता तथा निरभिमानता आजाने पर न किसी के प्रति आकर्षण होता है और न किसी से विकर्षण। अतः जाने हुए दोष को त्याग, गुणों के अभिमान से रहित,

अहम्–भाव की दासता से मुक्त होकर चित्त–शुद्ध कर लेना चाहिए। चित्त के शुद्ध होने पर इन्द्रिय–ज्ञान से अनेक भेद भासने पर भी वास्तविक अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही समता आ जाती है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

६–५–५६

५

प्राप्त का सदुपयोग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

गुण–दोष–युक्त जीवन ही वर्तमान वस्तुस्थिति है। इसके आधार पर ही प्राणी का व्यक्तित्व जीवित है। केवल दोषों के आधार पर किसी का भी व्यक्तित्व, अर्थात् अहम्–भाव जीवित नहीं रह सकता। ऐसा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता, जो सर्वांश में दोषी हो। बुरे से बुरा व्यक्ति भी किसी–न–किसी अंश में किसी–न–किसी के लिए भला सिद्ध होता है। व्यक्तियों में केवल अन्तर इतना ही होता है कि किन्हीं में गुणों की अधिकता और दोषों की न्यूनता और किन्हीं में दोषों की अधिकता और गुणों की न्यूनता। इसी आधार पर हम किसी को भला और किसी को बुरा मान बैठते हैं। गुण–दोष समान अवस्था में किसी व्यक्ति में नहीं होते, क्योंकि दो विरोधी शक्तियाँ सम होने पर गति–शून्य हो जाती हैं। गति तभी तक रहती है, जब तक वैषम्य हो।

जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ में किसी–न–किसी अंश में अग्नि विद्यमान रहती है, तभी काष्ठ का अस्तित्व उपयोगी सिद्ध होता है। यदि किसी कारण अग्नि की मात्रा अधिक हो जाय, तो काष्ठ काष्ठ के रूप में उपयोगी नहीं रहता और यदि काष्ठ किसी अंश में न रहे, तो प्रज्ज्वलित अग्नि भी शान्त हो जाती है। उसी प्रकार गुण–दोष

के वैषम्य के आधार पर ही सीमित अहम्–भाव की सिद्धि होती है और उसमें कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व जीवित रहता है। उसी कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान से चित्त अशुद्ध होता है।

चित्त–शुद्धि के लिए गुण–दोष–युक्त अहम्‌भाव का अन्त करना अनिवार्य है। यह नियम है कि दोषों का अन्त होने पर गुणों का अभिमान स्वयं गल जाता है और सर्वांश में गुणों का प्रादुर्भाव होने पर दोष स्वतः मिट जाते हैं। फिर सीमित अहम्–भाव जीवित नहीं रहता। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश से ही प्रकाशित है, उसके बिना नहीं, उसी प्रकार दोष का अस्तित्व भी किसी गुण के आधार से ही प्रकाशित होता है, बिना गुण के नहीं। तात्पर्य यह है कि सर्वांश में न तो कोई दोषी हो सकता है और न कोई दोषी रहना ही चाहता है। कारण, कि दोष अपनी दृष्टि में भी अपने को प्रिय नहीं होता और दूसरों को भी प्रिय नहीं होता। जिसके प्रति किसी भी अंश में प्रियता नहीं रहती, उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता, अथवा यों कहो कि उससे सम्बन्ध ही नहीं रह सकता। प्रियता में ही सम्बन्ध सुरक्षित रखने की सामर्थ्य है। दोष दोषी को अपनी दृष्टि में भी चैन से नहीं रहने देता और दूसरे तो दोष के कारण उपेक्षा करते ही हैं। पर दोषी अपने किसी गुण को देख, दोष से उत्पन्न हुई वेदना को शिथिल कर देता है, अथवा पराये दोष को देख, मिथ्या सन्तोष कर बैठता है, जिससे दोष दोषी से निकल नहीं पाता। इस दृष्टि से अपना गुण और दूसरों का दोष देखना बड़ा ही भयंकर दोष है, अथवा यों कहो कि यही दोष सभी दोषों की भूमि है। इस दोष का अन्त होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपना गुण नहीं देखना चाहिए, तो क्या दोष को ही देखते रहें ? नहीं। कारण कि अपने दोषों का चिन्तन करते रहना ही और अपने को दोषी मानते रहना ही चित्त–शुद्धि का उपाय नहीं है। परन्तु जब अपने में दोष का दर्शन

हो तब उस व्यथा को दबाने के लिए अपना गुण अथवा पराया दोष नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से दोष–जनित वेदना तीव्र हो जाएगी और दोष–जनित सुख का राग मिट जायगा। सुख का राग मिटते ही दोष की उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् स्वतः निर्दोषता आ जाएगी, जो गुणों के अभिमान को खाकर चित्त को शुद्ध कर देगी। दोष की वेदना का तीव्र न होना ही चित्त को अशुद्ध रखने में हेतु है। यद्यपि वेदना स्वयं उत्पन्न होती हैं, पर प्राणी प्रमादवश उसे दबा देता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

चित्त की अशुद्धि के कारण ही साधक प्रिय–वियोग, सन्देह, तथा विश्राम न पाने की वेदना सहन करता रहता है, अथवा यों कहो कि वेदना असह्य न होने से, न तो विश्राम ही मिलता है और न निस्सन्देहता एवं प्रेम की ही प्राप्ति होती है। असह्य वेदना उस समय तक नहीं होती, जब तक दुःख के साथ–साथ किसी प्रकार का सुख है। सुख–रहित दुःख वेदना को तीव्र करता है और असह्य वेदना अशुद्धि को खा जाती है। अशुद्धि का अन्त होते ही साधक को विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

जब–जब स्वभाव से ही विश्राम, निस्सन्देहता एवं प्रेम–प्राप्ति की लालसा उदय होती है, तब–तब साधक चित्त की अशुद्धि जनित सुखासक्ति से उस लालसा को शिथिल कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड़ देता है और अनेक मन–गढ़न्त बहाने करता रहता है कि प्रतिकूल परिस्थिति के कारण मुझे विश्राम नहीं मिलता। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही विश्राम आता है, पर साधक उसकी ओर ध्यान न देकर विश्राम–काल में भी अनुकूल परिस्थितियों का व्यर्थ चिन्तन करता रहता है और विश्राम न मिलने में प्राप्त परिस्थिति की निन्दा करता है।

संभी परिस्थितियाँ स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं और विश्राम अपने ही में मौजूद है। जो अपने में है, उससे विमुख होना और जिन

परिस्थितियों में सतत परिवर्तन है, उनको महत्त्व देना और उनके पीछे दौड़ना ही साधक को विश्राम से वंचित रखता है। यदि साधक सावधानी से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरतापूर्वक, परिस्थिति के अनुसार कर डाले और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त विश्राम से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से विश्राम के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए अप्राप्त परिस्थिति अपेक्षित नहीं है, उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है उसे वर्तमान में प्राप्त न करना और उसके लिए भविष्य की आशा रखना अपना ही प्रमाद है और कुछ नहीं। प्रमाद के रहते हुए चित्त शुद्ध हो नहीं सकता। इस दृष्टि से प्रमाद का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सन्देह प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है और निस्सन्देहता स्वभाव से ही प्रिय है। कारण, कि निस्सन्देहता जीवन से अभिन्न हो जाती है और सन्देह सदैव भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता प्राप्त करना परम अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव है जब साधक में सन्देह की वेदना जाग्रत हो जाय, अर्थात् निस्सन्देहता के बिना किसी भी प्रकार चैन से न रह सके। जैसे, यदि किसी को तीव्र प्यास लगी हो, और मधुर–शीतल जल उसके हाथ में हो, उस समय उससे कोई पूछे कि तुम पहले जल पीना चाहते हो, अथवा निस्सन्देह होना चाहते हो? यदि वह यह कहे कि मैं जल पीने से पूर्व निस्सन्देह होना चाहता हूँ, तो ऐसी वस्तुस्थिति में निस्सन्देहता अवश्य प्राप्त होती है। कारण, कि निस्सन्देहता की जिज्ञासा जिस काल में सभी कामनाओं को खाकर सबल तथा स्थायी हो जाती है, उसी काल में निस्सन्देहता स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। जिज्ञासा–पूर्ति के लिए किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है, केवल जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होनी चाहिए, जो सन्देह की वेदना से उदित होती है। इस दृष्टि से सन्देह का सहन करना ही निस्सन्देहता से विमुख होना है।

अब यह विचार करना है कि सन्देह रहते हुए साधक उसे सहन क्यों करता रहता है, जब कि निस्सन्देहता उसकी वास्तविक आवश्यकता है ? इन्द्रिय–ज्ञान को ही, जो वास्तव में परिवर्तनशील है, नित्य ज्ञान मान लेने पर सन्देह की वेदना उदित नहीं होती। इसी कारण साधक सन्देह सहन कर लेता है। परन्तु जब वह बुद्धि–ज्ञान से इन्द्रिय–ज्ञान पर विजयी होता है, तब सन्देह की वेदना तीव्र हो जाती है। यह नियम है कि समस्त कामनाएँ इन्द्रिय–ज्ञान से ही जीवन पाती हैं। ज्यों–ज्यों इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों–त्यों कामनाएँ मिटती जाती हैं। जिस काल में बुद्धि–जन्य ज्ञान इन्द्रिय–जन्य ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है, उसी काल में समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही निस्सन्देहता अपने आप आ जाती है। यदि इन्द्रिय–ज्ञान का उपयोग सेवा में किया जाय, पर उस ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता भी वर्तमान जीवन की ही वस्तु है। अतः जब तक निस्सन्देहता प्राप्त न हो, तब तक किसी दूसरे कार्य में प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सन्देह–युक्त दशा में जो प्रवृत्ति होगी, उससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

जिस प्रकार प्राणी को विश्राम तथा निस्सन्देहता प्रिय है, उसी प्रकार प्रेम की प्यास भी प्राणी में स्वाभाविक है, क्योंकि प्रेम के बिना नित, नव, अगाध, अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। रस का त्याग किसी को अभीष्ट नहीं है। अतः रस जीवन का आवश्यक अंग है। यदि किसी से पूछा जाय कि तुम्हें रस–विहीन जीवन चाहिए ? तो वह कहेगा–कदापि नहीं। रस–विहीन जीवन किसी को प्रिय नहीं। जीवन–रहित रस भी अपेक्षित नहीं है। रस और जीवन में इतनी अभिन्नता है कि इन दोनों का विभाजन सभी को असह्य है, अर्थात् रस और जीवन में विभाजन हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार विश्राम में निस्सन्देहता की सामर्थ्य विद्यमान है, उसी प्रकार निस्सन्देहता में प्रेम की सामर्थ्य विद्यमान है। जब जीवन में विश्राम आ जाता है, तब निस्सन्देहता भी आ जाती है, एवं जब

निस्सन्देहता आती है, तब प्रेम का भी प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। निस्सन्देहता में अभिन्नता, अभिन्नता में आत्मीयता और आत्मीयता में प्रेम स्वतः विद्यमान है। इस दृष्टि से विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम, इन तीनों में अभिन्नता है। विश्राम सामर्थ्य का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन की प्रतीक है और प्रेम रस का प्रतीक है। सामर्थ्य, जीवन और रस, ये तीनों ही सभी को स्वभाव से अभीष्ट हैं, अथवा यों कहो कि ये तीनों किसी एक ही में हैं और वही वास्तविक जीवन है, जिसकी उपलब्धि चित्त–शुद्धि में ही निहित है।

प्रत्येक साधक के मन में यह अविचल विश्वास रहना चाहिए कि विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। पर ऐसा विश्वास तभी सम्भव होगा, जब साधक प्राप्त वस्तु, योग्यता एवं परिस्थिति में सन्तोष न करे और न उनका दुरुपयोग ही करे। प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग वस्तुओं से अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है, जिसकी प्राप्ति विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम से ही सम्भव है। इतना ही नहीं, जीवन में ही निस्सन्देहता, विश्राम तथा प्रेम निहित है। जीवन उसे ही कहते हैं जो अपने ही में हो, जिससे वियोग किसी प्रकार न हो सके। तो फिर निस्सन्देहता, विश्राम, प्रेम आदि से दूरी कैसी, भेद कैसा ? जो अपने ही में है, वह अपने ही ज्ञान से प्राप्त हो सकता है। उसके लिए किसी 'परज्ञान' की अपेक्षा नहीं है। 'परज्ञान' का आश्रय तो सन्देह ही उत्पन्न करता है। ऐसा कोई सन्देह है ही नहीं, जिसकी उत्पत्ति इन्द्रिय–ज्ञान तथा बुद्धि–ज्ञान से न हो। इन दोनों के ज्ञान से अतीत जो ज्ञान है, उसमें सन्देह नहीं है और उसी में जीवन है, सौन्दर्य है। जिसे अपने ही सौन्दर्य तथा जीवन में प्रेम हो जाता है, वह सभी बन्धनों से रहित हो, अपने ही में सब कुछ पाकर कृतकृत्य हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होता है, जब साधक 'परज्ञान' का आश्रय त्याग 'निजज्ञान' द्वारा चित्त शुद्ध कर लेता है। अतः चित्त–शुद्धि के लिए साधक को वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त की शुद्धि में ही चिर–शान्ति, अर्थात् विश्राम तथा जीवन एवं प्रेम निहित है।

७–५–५६

६

अस्वाभाविकता का त्याग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की अशुद्धि हमारी अपनी बनाई हुई वस्तु है। वह किसी और की देन नहीं है और न प्राकृतिक विधान से उत्पन्न हुई है। इसी कारण चित्त शुद्ध करने का दायित्व अपने ही पर है। चित्त कब से अशुद्ध हुआ है, इसका ज्ञान भले ही न हो, पर चित्त की अशुद्धि का ज्ञान अवश्य है। यदि ऐसा न होता, तो चित्त- शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। न होने वाले कार्यों को करने की सोचना और होने वाले कार्यों को चित्त में जमा रखना ही चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

अब विचार यह करना है कि न होने वाले कार्य का चिन्तन हम क्यों करते हैं और होने वाले कार्यों को क्यों नहीं कर डालते। जब साधक अपनी वस्तुस्थिति से अपने को छिपाने लगता है, तब उसके मस्तिष्क में न होने वाले कार्य उत्पन्न होते हैं। पर वह उन्हें कार्यान्वित कर ही नहीं सकता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति उसे वर्तमान कार्य करने के लिए मिली थी, उसका व्यर्थ ही ह्रास हो जाता है, जिससे जो कर सकता था वह तो कर नहीं पाता और जो नहीं कर सकता है उसके चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। इस स्थिति में चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है। साधक को बड़ी ही सावधानी पूर्वक शीघ्रातिशीघ्र इस दशा से अपने को मुक्त करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब वर्तमान कार्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाय और जो नहीं कर सकता है उसकी लेश—मात्र भी चिन्ता न की जाय। इतना ही नहीं, चाहे जितना भी सुन्दर संकल्प क्यों न हो, यदि उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है, तो उसे अनावश्यक जानकर अवश्य त्याग देना चाहिए। न होने वाले कार्यों के त्याग से होने वाले कार्यों के करने की सामर्थ्य स्वतः आ जायेगी और उन कार्यों के हो जाने पर स्वतः विश्राम मिल

जायगा, जो आवश्यक शक्ति प्रदान करने में समर्थ है।

अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन सदा के लिए निकाल देना चाहिए। उसकी प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि वस्तु, व्यक्ति की प्राप्ति चिन्तन–साध्य नहीं है, अपितु कर्म–साध्य है। यह नियम है कि जो कर्म–साध्य है, उसकी प्राप्ति भविष्य में होती है। पर उससे नित्य सम्बन्ध कभी भी सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि प्राप्त करने योग्य नहीं हैं, प्रत्युत् वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा वर्तमान परिस्थिति के अनुसार करना अभीष्ट है। वस्तु, व्यक्ति आदि के व्यर्थ चिन्तन ने ही लालसा तथा जिज्ञासा को जाग्रत नहीं होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि जिसकी प्राप्ति चिन्तन–साध्य थी, उससे भी वंचित रहे और शक्तिहीन होने के कारण जो कर्म–साध्य था, उससे भी निराश होना पड़ा, अर्थात् प्राणी अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो गया।

अभावों का अभाव करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्त्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक किया जाय और कार्य के अन्त में किसी भी कार्य का चिन्तन न किया जाय और किए हुए कार्य के द्वारा किसी फल की आशा न की जाय, अपितु करने की रुचि का अन्त करने के लिए ही सर्वहितकारी कार्यों को परिस्थिति के अनुसार कर डालना चाहिए। ऐसा करते ही जिज्ञासा की जागृति तथा विरह का प्रादुर्भाव स्वतः होगा। जिज्ञासा तथा विरह अभ्यास नहीं है, अपितु स्वतः होने वाला चिन्तन है। वह ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों–त्यों चित्त के सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं। जिस काल में चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

जिज्ञासा–पूर्ति तथा प्रेम–प्राप्ति में पराधीनता नहीं है और वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति में स्वाधीनता नहीं है। जिसकी प्राप्ति में स्वाधीनता है, उसके लिए पराधीन हो जाना और जिसकी प्राप्ति में पराधीनता है उसके लिए अपने को स्वाधीन मानना चित्त की अशुद्धि है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता का भय, न जानने का दोष

और कर्त्तव्य–पालन में असमर्थता स्वीकार करना अस्वाभाविकता है। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही सभी का हित है। तो फिर किसी भी परिस्थिति से भयभीत क्यों होना ? जो जानते हैं, उसी से निस्सन्देहता तथा वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, फिर न जानने का दोष क्यों स्वीकार करना ? जो कर सकते हैं, वही करना है, तो फिर कर्त्तव्य–पालन में असमर्थता कैसी ?

जो अप्राप्त है उसकी चाह से रहित होना है, जो जानते हैं उसका आदर करना है और जो कर सकते हैं उसी को कर डालना है। अप्राप्त की चाह से रहित होते ही योग स्वतः सिद्ध होगा। जो जानते हैं उसका आदर करते ही स्वतः बोध होगा। जो कर सकते हैं उसके करते ही स्वतः सुन्दर परिस्थिति प्राप्त होगी। चित्त की अशुद्धि ने ही जिज्ञासु को तत्त्व–ज्ञान नहीं होने दिया और चित्त की अशुद्धि ने ही प्रेमी को प्रेमास्पद से नहीं मिलने दिया। जिससे आत्मीयता है, भला उसकी विस्मृति हो सकती है ? कदापि नहीं। जिसको बिना जाने हम किसी प्रकार रह ही नहीं सकते, क्या उससे भेद तथा दूरी रह सकती है ? कदापि नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वाभाविक है और वर्तमान जीवन की वस्तु है।

जिसे नहीं जानते हैं उसके भूलने को भूल नहीं कहते। भूल उसी के सम्बन्ध में कही जाती है, जिसको जानते हैं, पर भूल गये। यदि साधक यह विचार करने लगे कि मैं क्या जानता हूँ, तो भूल स्वतः मिट जाती है और बड़ी ही सुगमता–पूर्वक निस्सन्देहता प्राप्त होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जो कर सकता है, यदि उसे कर डाले, तो विद्यमान राग की निवृत्ति अवश्य हो जाती है, जिसके होते ही कार्य के अन्त में स्वतः विश्राम मिलता है, जिससे नित्ययोग की प्राप्ति होती है। यदि कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता, तो समझना चाहिए कि कार्य करने में कोई असावधानी अवश्य हुई है, नहीं तो विश्राम का प्राप्त होना स्वाभाविक है। साधक

को परिस्थिति के अनुसार कार्य करने में स्वाधीनता है। पर उसके फल पर दृष्टि रखना, अथवा अपवित्र भाव से करना, अथवा कार्य करने में अपनी पूरी शक्ति न लगाना, ये कर्त्तव्य–पालन में दोष हैं। इन दोषों के होने के कारण ही कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता है। अब कोई यदि यह कहे कि कार्य के फल की आशा क्यों नहीं रखनी चाहिए ? जो कुछ किया जाता है उसका फल प्राकृतिक नियम के अनुसार समष्टि शक्तियों से बनता है। फल कर्त्ता के अधीन नहीं है। जो कर्त्ता के अधीन नहीं है, उस पर दृष्टि रखना कर्ता का दोष है। जैसे खेत में दाना बोने का कृषक का अधिकार है, पर वह दाना प्राकृतिक नियमों के अनुरूप ही उगेगा और फल देगा। कोई भी कृषक न तो प्राकृतिक खेत को ही उत्पन्न कर सकता है और न दाने को ही बना सकता है। प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग में ही प्राणी का अधिकार है, परन्तु उपयोग का फल प्राकृतिक नियम से होता है, मनमाने ढंग से नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–पालन मात्र में ही अपना अधिकार मानना चाहिए और फल पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार जो भी फल प्राप्त हो, उसे भी दूसरों की सेवा में ही लगाते रहना चाहिए। सेवा करने मात्र को ही अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान कार्य करने से कार्य के अन्त में साधक को विश्राम अवश्य मिलेगा। विश्राम के न मिलने में कर्त्ता का अपना ही कोई दोष है और कुछ नहीं।

इन्द्रियों के ज्ञान से जो कुछ जानने में आता है उस पर विश्वास करना, अथवा उससे ममता करना, चित्त को अशुद्ध करना है। विश्वास केवल उसी पर करना है, जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि से नहीं जानते हो। इन्द्रियों के ज्ञान से जिन वस्तुओं को जानते हो, उनका सदुपयोग और जिन व्यक्तियों को जानते हो, उनकी सेवा करना चित्त-शुद्धि का साधन है। पर उनमें आसक्त होना, अथवा उनसे ममता करना केवल लोभ–मोह में आबद्ध होना है, जो चित्त की अशुद्धि है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ से दरिद्रता और मोह से जड़ता उत्पन्न होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

यदि निर्लोभता पूर्वक, विधिवत् वस्तुओं का उपयोग किया जाय और निर्मोहता पूर्वक व्यक्तियों की सेवा की जाय, तो न तो उन पर विश्वास होता है, न सम्बन्ध रहता है और न चित्त अशुद्ध होता है।

वस्तु, व्यक्ति का विश्वास गलते ही उस अनन्त पर स्वतः विश्वास हो जाता है, जिसको किसी ने इन्द्रिय, बुद्धि आदि के ज्ञान से नहीं जाना। यह नियम है कि जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही विश्वासपात्र की मधुर स्मृति अपने आप आने लगती है और उस समय तक उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, जब तक विश्वासी स्वयं प्रीति होकर अपने विश्वासपात्र के प्रेम को पा नहीं लेता। इस दृष्टि से विरह की जागृति भी स्वाभाविक है। उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि जो विरह स्वाभाविक है, उसे हम अभ्यास द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि द्वारा किया हुआ अभ्यास जब शिथिल होता है, तब प्रिय–चिन्तन मिट जाता है और वस्तु आदि का चिन्तन होने लगता है। विरह की उत्पत्ति इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के स्वभाव को प्रीति में बदल देती है। अतः उसे मन लगाना नहीं पड़ता, स्वतः मन लग जाता है, और प्रिय से जो भिन्न है, उससे मन हटाना नहीं पड़ता, स्वतः हट जाता है। मन को लगाने–हटाने का रोग तभी तक रहता है, जब तक जीवन में अस्वाभाविकता है, जो चित्त की अशुद्धि से उत्पन्न हुई है। कर्त्तव्य–पालन में ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। कर्त्तव्य की पूर्ति होते ही सभी वस्तुओं से, जो हमें अत्यन्त निकट भासती हैं, सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है। यदि हमारा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद नहीं हुआ, तो समझना चाहिए कि जो वस्तुएँ हमें कर्त्तव्य–पालन के लिए मिली थीं, उनके द्वारा कर्त्तव्य–पालन नहीं किया। देखने, सुनने, समझने, करने आदि के लिए ही शरीर आदि वस्तुएँ मिली हैं। जो करना है उसके कर डालने पर, जो समझना है उसके समझ लेने पर, सभी वस्तुओं से असंगता हो जाती है। यह सदैव ध्यान रहे कि वह कभी भी नहीं

करना है जिसे कर नहीं सकते और उसे देखना–समझना नहीं है जिसे समझ नहीं सकते। यदि इसी बात को एक ही बात में कहा जाय तो यह कह देना चाहिए कि कामना–पूर्ति–काल में ही शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। कामना–निवृत्ति का महत्त्व बढ़ जाने पर सभी वस्तुओं से स्वतः सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही जिस पर विश्वास किया था उससे नित्य सम्बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–पालन, नित्य–योग, मधुर–स्मृति तथा निस्सन्देहता, ये सभी चित्त शुद्ध होने पर स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं। इनकी प्राप्ति में लेशमात्र भी अस्वाभाविकता नहीं है।

प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य–परायण न होना, जो सभी वस्तुओं से अतीत है, उसमें विश्वास न होना और जाने हुए का आदर न करना, ये तीनों ही बातें अस्वाभाविक हैं और इस अस्वाभाविकता को अपना लेने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए अस्वाभाविकता का त्याग और स्वाभाविकता को अपना लेना अनिवार्य है। पर यह बड़ी ही सावधानी से समझना चाहिए कि कामना–पूर्ति का महत्त्व जब तक रहता है, तब तक अस्वाभाविकता में स्वाभाविकता और स्वाभाविकता में अस्वाभाविकता प्रतीत होती है। सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं होतीं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं, उनको चित्त में अंकित रखना कुछ अर्थ नहीं रखता। और जो कामनाएँ स्वतः पूरी हो ही जायेंगी, उनकी पूर्ति के सुख में आबद्ध होना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः कामना–पूर्ति का कोई महत्त्व नहीं है। यह जान लेने पर कामना–निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है जिसके आते ही, जो स्वाभाविक है, वह जीवन हो जाता है और जो अस्वाभाविक है उसकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है। अस्वाभाविकता मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

८–५–५६

७

न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का साधन भी विद्यमान है। परन्तु जब साधक अपने उस ज्ञान का आदर नहीं करता जिससे उसने अशुद्धि को जाना था, तब अशुद्धि मिटाने के लिए वह अनेक बाह्य, अस्वाभाविक उपचारों का अनुसरण करता है, परन्तु चित्त शुद्ध नहीं होता, क्योंकि अस्वाभाविकता से ही तो चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे चित्त अशुद्ध हुआ है, उससे भला शुद्ध कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि के लिए हमें स्वाभाविक साधन को ही अपनाना होगा। उसके लिए साधक को सर्वप्रथम उस ज्ञान का आदर करना होगा, जिस ज्ञान से उसने चित्त की अशुद्धि को जाना है।

अशुद्धि का ज्ञान उसके परिणाम को और शुद्धि की महिमा को प्रकाशित करता है। ज्यों–ज्यों अशुद्धि के परिणाम का बोध होता जाता है, त्यों–त्यों अशुद्धि–जनित सुख–भोग की आसक्ति स्वतः मिटती जाती है, जिसके मिटते ही अशुद्धि की पुनरावृत्ति नहीं होती, जिसके न होने से अशुद्धि सदा के लिए निर्मूल हो जाती है। चित्त शुद्धि की साधना में जो अस्वाभाविकता तथा परिश्रम प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि जिस अशुद्धि को विवेकपूर्वक मिटाना चाहिए, उसे हम बलपूर्वक मिटाते हैं। अविवेक–जन्य अशुद्धि बलपूर्वक दबाई जा सकती है, मिटाई नहीं जा सकती। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि की साधना विवेकयुक्त होनी चाहिए, तभी सफलता हो सकती है।

चित्त-शुद्धि के साधक के लिए यह अनिवार्य है कि अपने चित्त की वास्तविक वस्तुस्थिति को सरलतापूर्वक प्रकट कर डाले, इससे

अशुद्धि निर्जीव हो जाती है। सरलता के बिना चित्त की वास्तविकता का निरीक्षण ही नहीं हो सकता। उसके हुए बिना अशुद्धि मिट नहीं सकती। अतः सरलतापूर्वक चित्त की वस्तुस्थिति जानने तथा प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब हम जैसे अपनी दृष्टि में हैं, वैसे ही दूसरों की दृष्टि में भी रहने की आशा करें, कृत्रिमता–पूर्वक अपना प्रकाशन न करें। अकृत्रिमता आते ही चित्त की दबी हुई अशुद्धि का ज्ञान भी हो जाता है और उसको प्रकट करने का साहस भी आ जाता है। यह नियम है कि अशुद्धि को अशुद्धि जान लेने पर ही अशुद्धि निर्जीव हो जाती है और उसका प्रकाशन हो जाने पर तो उसकी पुनरावृत्ति होती ही नहीं है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि को जानकर उसका प्रकाशन अनिवार्य है। पर साधक को इस बात का ध्यान रहे कि उसे जिस अशुद्धि का ज्ञान हुआ है, वह अशुद्धि भूतकाल की है। उसको न दोहराने का व्रत लेना है, किन्तु भूतकाल की अशुद्धि के आधार पर चित्त को वर्तमान में अशुद्ध नहीं मानना है। यह नियम है कि वर्तमान की शुद्धि भविष्य में कभी अशुद्धि में परिवर्तित नहीं होती, अथवा यों कहो कि भूतकाल की अशुद्धि का त्याग वर्तमान में हो सकता है, परन्तु वर्तमान की शुद्धि भविष्य में मिट नहीं सकती।

चित्त की अशुद्धि को दबाने की प्रवृत्ति जीवन में क्यों आती है ? इस भय से कि उसके प्रकाशन में हमारी निन्दा होगी, तिरस्कार होगा, हमें कोई अपनायेगा नहीं। परन्तु जिस प्रकार दबा हुआ बीज वृक्ष होकर एक से अनेक हो जाता है, उसी प्रकार दबी हुई अशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है। जिस भय से आज हम उसे दबाते हैं वह भय अवश्य आ जाएगा, क्योंकि भय का बीज जब तक विद्यमान है, तब तक हम अभय हो ही नहीं सकते। तो फिर उसे दबाने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं। इस दृष्टि से अभय होने के लिए यह अनिवार्य है कि चित्त में जो बीज रूप से अशुद्धि विद्यमान है उसको शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाय और उसका प्रकाशन उन लोगों के सामने कर दिया जाय, जो अशुद्धि के प्रकाशन का महत्त्व जानते हों और जो सब प्रकार से अपने

हित–चिन्तक हों, जैसे सद्गुरु, सन्मित्र, माता–पिता आदि अथ उन लोगों से कह दिया जाय, जो हमारे दुःख से दुःखी हों औ हमारी उन्नति को देखकर जिनमें ईर्ष्या न हो, अपितु जो उस हर्षित हों।

साधक को अपना चित्र निज–ज्ञान से देखना चाहिए। यदि अपना चित्र अपनी दृष्टि में सुन्दर हो और समाज की दृष्टि उस विरुद्ध हो, तो लेशमात्र भी भयभीत नहीं होना चाहिए। कारण, कि ज्ञान का आदर जिन्होंने किया, उन्हीं के द्वारा समाज में क्रान्ति हु अर्थात् विरोधी समाज भी उनका अनुसरण करने लगता है, जो निज–ज्ञान का आदर करते हैं। निज–ज्ञान का अर्थ इन्द्रिय–ज्ञा नहीं, अपितु प्राप्त विवेक लेना चाहिए। उसी निज–ज्ञान के प्रका में साधक को अपने चित्त की दशा को देखना चाहिए। यदि उस किसी अशुद्धि का दर्शन हो तो उसे शीघ्र ही मिटा देना चाहिए। ज तक न मिटे, तब तक चित्त से असहयोग कर लेना चाहिए, अर्था चित्त की ममता से रहित हो जाना चाहिए। पर इस बात का ध्या रहे कि असहयोग क्रोध नहीं है, प्रत्युत् सम्बन्ध–विच्छेद के द्वार चित्त का सुधार है। क्रोध न अपने प्रति हितकर सिद्ध होता है औ न दूसरों के प्रति। कारण, कि क्रोध से विस्मृति उत्पन्न होती है, जो कर्त्तव्य से च्युत कर देती है। सम्बन्ध–विच्छेद से ममता का नाश होता है, जिससे राग की निवृत्ति होती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से सम्बन्ध–विच्छेद करने से किसी का अहित नहीं होता।

प्राणी अपना सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक, जिनसे ममता होती है, उनका सुधार क्षुब्ध होकर और जिनसे ममता नहीं है, उनका सुधार उपेक्षा भाव से करने की सोचता है। पर ऐसा करने से सुधार होता नहीं। जिनसे ममता नहीं है, उनका सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक ही सम्भव है, उपेक्षा द्वारा नहीं। जिनसे ममता है, उनका सुधार मोह–रहित होने से सम्भव है, क्षुभित होने से नहीं और अपने चित्त का सुधार अपने प्रति कठोर न्याय तथा असहयोग से ही सम्भव है,

दुलार तथा प्यार से नहीं। अतः दूसरों के समान अपने प्रति न्याय और अपने समान दूसरों के प्रति प्यार करने से ही चित्त शुद्ध हो सकता है। कारण, कि यदि दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार न किया, तो उनसे भेद बना रहेगा, जिससे न तो उनका ही हित होगा और न अपना ही चित्त शुद्ध होगा। जिस प्रवृत्ति से दूसरों का हित होता है, उसी से अपना चित्त शुद्ध होता है। जिनसे ममता नहीं है, उनसे भेद है। भेद को जीवित रखने से भी चित्त अशुद्ध होता है। और जिनसे ममता है, उनसे किसी न किसी प्रकार की आसक्ति से भी चित्त अशुद्ध होता है। अतः जिनसे भेद है, उनसे एकता करने के लिए उनके प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग करना पड़ेगा और जिनसे आसक्ति है, उनके प्रति निर्मोहता तथा असहयोग का प्रयोग करना पड़ेगा, तभी चित्त क्षोभ-रहित हो सकता है। यह नियम है कि क्षोभ-रहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, जिसका सदुपयोग करते ही साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। अपने प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग उसका दुरुपयोग है और दूसरों के प्रति न्याय तथा उपेक्षा का प्रयोग उनका दुरुपयोग है। दिव्य-गुणों का उपयोग यथास्थान न करने से कोई लाभ नहीं होता, अपितु हानि ही होती है। इस दृष्टि से जिनसे ममता नहीं है, उन्हीं के प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग हितकर सिद्ध होता है। मोहयुक्त क्षमा से किसी का भी हित नहीं होता--न अपना और न उसका, जिससे मोह है। अपना हित तो अपने प्रति न्याय करने ही में है और दूसरों का हित क्षमा में निहित है। अतः चित्त शुद्ध करने के लिए अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम करना ही होगा।

यह ध्यान रहे कि न्याय वही सार्थक है, जो रक्षा में समर्थ हो। न्याय भी वही कर सकता है, जो क्रोध से रहित हो और प्रेम वही कर सकता है, जो काम से रहित हो। जिसकी प्रसन्नता दूसरों पर निर्भर है, वह प्रेम नहीं कर सकता और जो सुख-भोग में आसक्त है, वह अपने प्रति न्याय नहीं कर सकता। न्याय करने के लिए सुख-भोग की दासता का अन्त करना होगा और प्रेमी होने के लिए सुख की आशा से रहित होनीं होगा। यह नियम है कि जो जिससे सुख की

आशा करता है, उससे प्रेम नहीं कर सकता, और न्याय तथा प्रेम के बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त सुख की आसक्ति से रहित और अप्राप्त सुख की आशा से रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

९–५–५६

८

न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त–शुद्धि जीवन का आवश्यक अंग है। समस्त समस्याओं का हल उसी में निहित है। इतना ही नहीं, वर्तमान मानव–जीवन चित्त–शुद्धि के लिए ही मिला है। कारण, कि चित्त की अशुद्धि अविवेक–जन्य है, जो प्राप्त विवेक के उपयोग से मिट सकती है। विवेक मानवमात्र को स्वभाव से ही प्राप्त है। इस दृष्टि से चित्त को शुद्ध करने में हम सभी स्वाधीन हैं। पराधीनता-अप्राप्त वस्तु आदि की प्राप्ति में भले ही हो पर, चित्त को शुद्ध करने में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में चित्त-शुद्धि अपेक्षित है। यह नियम है कि जिसकी आवश्यकता मानवमात्र को सर्वत्र, सर्वदा है, उसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। अतः चित्त–शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए।

अब विचार यह करना है कि जिसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है, उसे प्राप्त करने में हमें असमर्थता क्यों प्रतीत होती है ? उसका एकमात्र कारण यह है कि जब हम विवेक के प्रकाश में अपने में कोई दोष पाते हैं, तो अपने प्रति वह न्याय नहीं करते, जो उसी दोष में दूसरों के प्रति करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वह दोष दृढ़तापूर्वक चित्त में अंकित हो जाता है। अपने प्रति न्याय किये

बिना निर्दोषता की उपलब्धि कभी सम्भव नहीं है। अपने प्रति न्याय करने में कठिनाई क्या है ? यदि इस पर विचार किया जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोष–जनित सुख के बदले में उससे कहीं अधिक दुःख का हर्ष पूर्वक अपना लेना न्याय का सर्वप्रथम अंग है। न्याय के इसी प्रथम अंग का उपयोग हम दूसरों पर तो बड़े ही सहज भाव से करने लगते हैं, पर अपने प्रति सुख के स्थान पर दुःख के अपनाने में भयभीत होते हैं। इस कारण अपना दोष जान लेने पर भी अपने को क्षमा करने की बात सोचते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो क्षमा दूसरों के प्रति करने की थी, जिससे पारस्परिक एकता प्राप्त होती, वह अपने प्रति करने से अपने व्यक्तित्व का मोह और दृढ़ हो जाता है, जो दोषों का मूल है। अपने प्रति किया हुआ मोह अनेक अशुद्धियाँ उत्पन्न करता है। इसी कारण अपने प्रति हमें न्याय ही करना चाहिए। पर वह तभी सम्भव होगा, जब हम यह स्वीकार करें कि क्षमा अपने प्रति नहीं करनी है, दूसरों के प्रति करनी है।

न्याय का दूसरा अंग है, किये हुए दोष को न दोहराना। यह अंग अपने प्रति तभी सम्भव है, जब न्याय के प्रथम अंग को अपना लिया जाय। यह नियम है कि जब दुःख इतना बढ़ जाता है कि सुख का राग मिट जाय, तब दोष न दोहराने की दृढ़ता स्वतः आ जाती है। कारण, कि सुख–लोलुपता से ही दोष में प्रवृत्ति होती है। जब दुःख ने उसे खा लिया, तब किया हुआ दोष न दोहराना स्वाभाविक हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता दृढ़ हो जाती है, जो न्याय का तीसरा अंग है।

न्याय से कभी अपना अहित नहीं होता, अपितु अपना तथा दूसरों का हित ही होता है। इस दृष्टि से न्याय को अपनाने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। न्याय से भयभीत होना भूल है, क्योंकि उसके बिना अपनाए सुधार ही सम्भव नहीं है। जब प्राणी अपने प्रति स्वयं न्याय करने लगता है, तब वह दूसरों की दृष्टि में अदण्डनीय, अर्थात् क्षमापात्र बन जाता है। जो अपने प्रति न्याय नहीं करता,

उसके प्रति दूसरों के मन में स्वतः क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति के विधान से उसके प्रति विरोधी सत्ता स्वयं उत्पन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, जो अपने प्रति न्याय नहीं करता, उसके द्वारा दूसरों के प्रति अन्याय स्वतः होने लगता है, जिससे समाज में भी उसके प्रति विरोधी–सत्ता उत्पन्न हो जाती है। वह विरोध इस सीमा तक बढ़ जाता है कि उस व्यक्ति के न रहने पर भी वह जिस वर्ग का था उस वर्ग से, जिस जाति का था उस जाति से और जिस मत, सम्प्रदाय आदि को मानता था उन सबसे समाज में एक स्थायी विद्रोह की परम्परा चल जाती है। इस दृष्टि से अपने प्रति न्याय न करने से घोर क्षति होती है। अतः अपने प्रति न्याय करना परम अनिवार्य है।

अपने प्रति आप न्याय करने से समाज में निन्दा नहीं होती, अपितु आदर ही मिलता है। किन्तु जब दूसरों के द्वारा अपने प्रति न्याय होता है, तब समाज में निन्दा होती है। इस दृष्टि से भी अपने प्रति न्याय करने में कितना महत्त्व है! न्याय के इस रहस्य को जो जान लेते हैं वे हर्ष पूर्वक अपने प्रति न्याय करने लगते हैं। अपने प्रति न्याय का अर्थ अपने पर क्रोधित होना नहीं है, न अपना विनाश करना है और न अपनी क्षति करना है, अपितु न्याय का अर्थ है–असहयोगपूर्वक अपना सुधार। असहयोग से सम्बन्ध–विच्छेद होता है। सम्बन्ध–विच्छेद से राग–द्वेष नहीं रहता। राग–रहित होने से सुखासक्ति मिट जाती है और द्वेष–रहित होने से क्रोध का नाश हो जाता है। सुखासक्ति मिट जाने से दोषों की पुनरावृत्ति नहीं होती, जिससे निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है और क्रोध–रहित होने से हिंसा का भाव मिट जाता है, जिससे अपने सुधार पर तो दृष्टि रहती है, पर अपने विनाश की भावना मिट जाती है। न्याय का वास्तविक प्रयोग अपने ही पर हो सकता है, दूसरों पर नहीं। न्याय वह तत्त्व है जिसमें न हिंसा है और न पक्षपात। जिस न्याय में हिंसा और पक्षपात की गन्ध हो, वह न्याय के स्वरूप में अन्याय का चित्र है। अन्याय का जीवन में कोई स्थान नहीं है। जो न्याय को अपना लेता है, वह आदरणीय होता है, निन्दनीय नहीं।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमें अपने मन के ही साथ करना है। जैसे–जैसे दूरी बढ़ती जाय, वैसे–वैसे न्याय क्षमा के रूप में बदलते जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे जितनी अधिक समीपता हो, उसके प्रति उतना ही अधिक न्याय करना चाहिए। ज्यों–ज्यों दूरी बढ़ती जाय, त्यों–त्यों न्याय क्षमा के रूप में परिवर्तित होता जाना चाहिए। न्याय और क्षमा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिनसे ममता है, उनके प्रति न्याय करने से जो हित होता है, वही हित जिनसे ममता नहीं है, उनके प्रति क्षमा करने से होता है। न्याय और क्षमा के फल में कोई भेद नहीं है।

न्याय और क्षमा के बाह्य रूप में भले ही भेद हो, परन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं है। जब हम अपने प्रति अन्याय करने वालों को क्षमा करते हैं, तब हमारे और उनके बीच में जो दूरी तथा भेद था, वह मिटने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर स्नेह की एकता उत्पन्न हो जाती है, जिससे हमारे और उनके बीच परस्पर हिंसा का भाव मिट जाता है। एक दूसरे का भला चाहने लगते हैं और फिर संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इतना ही नहीं, जब दोषी के दोष को सहन करते हुए उसके बदले में उसके प्रति सद्भावना तथा सद्व्यवहार किया जाता है, तब उसके मन में स्वतः अपनी भूल का पश्चाताप होने लगता है। पश्चाताप की अग्नि ज्यों–ज्यों प्रज्ज्वलित होती जाती है, त्यों–त्यों उसके जीवन से दोष स्वतः भस्मीभूत होते जाते हैं और फिर उसमें निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि क्षमा का स्वरूप क्या है ? क्षमा अपने और विपक्षी के बीच में निर्वैरता की स्थापना करती है, जिसके होते ही अपनी ओर से बुराई के बदले में भलाई स्वतः होने लगती है और अपने प्रति होने वाली बुराई की विस्मृति हो जाती है। इतना ही नहीं, क्षमा से पूर्व जो अपने प्रति बुराई प्रतीत होती थी, वह भलाई प्रतीत होने लगती है और क्षमाशील में स्वतः निरभिमानता आने लगती है। वह क्षमा इसलिए नहीं करता कि दूसरा अपराधी है,

अपितु अपने ही को अपराधी मान कर क्षमा करता है। वह इ रहस्य को जान लेता है कि यदि मेरी भूल न होती, तो मेरे सा कोई बुराई कर ही नहीं सकता था। मेरी ही की हुई बुराई दूसरों द्वारा मेरे सामने आती है, उस बेचारे का कोई दोष नहीं है। यदि उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध न जोड़ता, उससे आशा न करत तो उसके द्वारा मेरे प्रति बुराई हो ही नहीं सकती थी।

किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा करना तथ उसे अपना मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही अपने प्रति बुराई होत है। वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा के लिए ही जीव मिला है, उनसे सुख की आशा करना, अथवा उनसे ममता करन अपनी ही भूल है। इस भूल का अन्त करते ही चित्त स्वतः शुद्ध ह जाता है, जिसके होते ही अपने प्रति न्याय और दूसरे के प्रति क्षम स्वतः होने लगती है। शुद्धि का प्रादुर्भाव सदैव नित्य तथा विभु होत है, क्योंकि वह अनन्त की विभूति है। अनन्त की विभूति का कभ अन्त नहीं होता, अपितु वह अनन्त ही होती है। अशुद्धि सदैव सीमित और विनाशशील होती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सीमित अहम्—भाव से होती है। इस दृष्टि से अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है जिसके होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। अशुद्धि कोई ऐसी नहीं होती, जिसमें कर्त्तृत्व न हो और शुद्धि सर्वदा स्वतः सिद्ध स्वाभाविक होती है। इसी से अशुद्धि का अन्त होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि न्याय तथा क्षमा के प्रयोग का क्रम क्या है ? जब साधक को अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अशुद्धि का दर्शन हो, तब उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के प्रति न्याय करना चाहिए अर्थात् उनसे विवेक पूर्वक असहयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करते ही वे सभी स्वतः शुद्ध हो जायेंगे। कारण, कि जिस वस्तु से ममता नहीं रहती, वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। यह नियम है कि जो वस्तु अनन्त को समर्पित हो जाती है, वह अनन्त की कृपा—शक्ति से स्वतः शुद्ध हो जाती है। वह निन्दनीय

नहीं रहती, अपितु अनन्त के नाते सेवा तथा प्यार की पात्र बन जाती है।

चित्त शुद्ध हो जाने पर सभी साधन सफल हो जाते हैं। चित्त की शुद्धि के बिना जो साधन केवल बलपूर्वक किया जाता है, उससे मिथ्या अभिमान की ही वृद्धि होती है, कोई विशेष लाभ नहीं होता। चित्त–शुद्धि के बिना जो कुछ किया जाता है, वह निरर्थक ही सिद्ध होता है। चित्त शुद्ध हो जाने पर समस्त जीवन में सौन्दर्य आ जाता है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग है। उसके लिए साधक को अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा का प्रयोग करना है।

चित्त–शुद्ध होते ही शरीर, मन और बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। शरीर की शुद्धि में कर्म की शुद्धि निहित है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। मन की शुद्धि से योग सिद्ध होता है, जो शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। बुद्धि की शुद्धि से बोध की प्राप्ति होती है, जो अमर तथा चिन्मय जीवन का प्रतीक है और अहम् शुद्ध हो जाने पर प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें अनन्त अगाध रस है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि में ही समस्त जीवन की पूर्णता निहित है।

१०–५–५६

९

असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को, अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। बुराई–काल में कर्त्ता भले ही बुरा हो, पर उससे पूर्व और उसके पश्चात् बुरा नहीं है। फिर भी उसे बुरा मानते रहना उसके प्रति घोर अन्याय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी मे

बुराई की स्थापना करना उसे बुरा बनाना है और अपने प्रति बुराई के आने का बीज बोना है, क्योंकि कर्म-विज्ञान की दृष्टि से जो दूसरों के प्रति किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर अपने प्रति होने लगता है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से किसी को भी बुरा मानना अपने को बुरा बनाने में हेतु है, अथवा यों कहो कि अपने को भला बनाने के लिए दूसरों के प्रति भलाई करना तथा उन्हें भला समझना अनिवार्य है। किसी को बुरा मानने में न तो अपना ही हित है और न उसका, जिसे बुरा मानते हैं। इस दृष्टि से किसी में भी बुराई की स्थापना नहीं करनी चाहिए। यही चित्त–शुद्धि का सुगम उपाय है।

कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नहीं होता, सभी के लिए बुरा नहीं होता और सर्वदा बुरा नहीं होता। तो फिर किसी को बुरा मानना, क्या मिथ्या नहीं है ? अर्थात् अवश्य है। बुराई की प्रतीति अपने में हो, अथवा दूसरे में, आंशिक होती है, और वह भी सदैव नहीं रहती। व्यक्ति प्रमादवश भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को वर्तमान में बुरा मान लेता है। यह मान्यता की हुई बुराई की स्मृति–मात्र है, बुराई नहीं। यदि की हुई बुराई की स्मृति को अहम्–भाव में स्थापित कर दिया गया, तो बुराई की पुनरावृत्ति स्वतः होने लगती है। इस कारण की हुई बुराई की स्मृति की स्थापना न अपने में करनी चाहिए और न दूसरों में। हाँ, यदि बुराई की स्मृति वेदना जाग्रत करती है, तो वह वेदना बुराई–जनित सुख का राग मिटाने में साधन–रूप है। पर कब ? जब उस प्रकार की बुराई को, जिसकी कि वह स्मृति है, न दोहराने का दृढ़ संकल्प कर लिया जाय, और उसके विपरीत, जो निर्दोषता है उसकी स्थापना कर ली जाय। तो सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि किसी भी दोष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि अन्धकार प्रकाश की ही न्यूनता है, पर अन्धकार प्रकाश नहीं है। उसी प्रकार दोष, गुण की ही न्यूनता है पर दोष गुण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दोष का कोई अपना

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण उसकी निवृत्ति हो सकती है। यह नियम है कि निवृत्ति उसी की होती है, जो सर्वदा न रहे। जब दोष सर्वदा रहने वाली वस्तु नहीं है, तब किसी को भी दोषी मानना किसी प्रकार भी न्याय-संगत नहीं है। पर प्राणी प्रमादवश अपने को तथा दूसरों को स्थायी रूप से दोषी मान लेता है। चित्त–शुद्धि के लिए दोष–युक्त मान्यताओं का त्याग अनिवार्य है।

निर्दोष मान्यताएँ साधनरूप हैं। जो साधनरूप मान्यताएँ हैं, वे कर्त्तव्य की प्रतीक हैं। कर्त्तव्य–पालन में विद्यमान राग की निवृत्ति तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा निहित है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य के अर्थ में केवल सर्व–हितकारी प्रवृत्ति ही आ सकती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति, निवृत्ति में स्वतः बदल जाती है और निवृत्ति–काल में वह मान्यता भी मिट जाती है, जिस मान्यता से प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। यदि निवृत्ति–काल में मान्यता का अन्त नहीं होता, तो समझना चाहिए कि साधन रूप मान्यता नहीं थी, अथवा मान्यता के अनुरूप विधिवत् कर्त्तव्य–पालन नहीं किया गया। इन्हीं दो कारणों से निवृत्ति–काल में मान्यता का अस्तित्व भासता हैं साधनरूप मान्यता बीज है सर्व–हितकारी प्रवृत्ति का। सर्व–हितकारी प्रवृत्ति वासना–रहित निवृत्ति प्रदान करने में समर्थ है और निवृत्ति में सर्व–हितकारी प्रवृत्ति की सामर्थ्य विद्यमान है। इस दृष्टि से सर्व–हितकारी प्रवृत्ति और वासना–रहित निवृत्ति एक दूसरे की पूरक हैं और चित्त–शुद्धि में हेतु हैं।

वस्तु, व्यक्ति आदि किसी को भी बुरा तथा भला नहीं मानना चाहिए, अपितु इनका सदुपयोग करना चाहिए। वस्तुओं के सदुपयोग से व्यक्तियों की सेवा सिद्ध होती है और व्यक्तियों की सेवा से समाज में सदाचार की वृद्धि होती है। स्वरूप से तो सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील तथा विनाशी हैं। अतः उनके सम्बन्ध में कोई एक निश्चित धारणा करना भूल हैं। इस भूल से ही प्राणी वस्तुओं को भला–बुरा मानकर राग–द्वेष में आबद्ध हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी करण हैं, कर्त्ता नहीं।

करण की निन्दा करना कर्त्ता की असावधानी है और कुछ नहीं। कर्त्ता का प्रभाव ही करण में भासित होता है। अतः कर्त्ता अपनी शुद्धि-अशुद्धि को ही शरीर, इन्द्रिय,मन, बुद्धि आदि में देखता है, पर कहता यह है कि मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अशुद्ध हैं। जब कर्त्ता अपने में से वह अशुद्धि निकाल देता है, जो उसने भूतकाल की घटनाओं के आधार पर अपने में आरोपित कर ली है, तब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने आप शुद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से अपने में से अशुद्धि का त्याग और उसमें शुद्धि की स्थापना अनिवार्य है, जिसके करते ही चित्त सदा के लिए शुद्ध हो जाता है। अपने को दोषी मानना दोष को निमन्त्रण देना है। अतः 'दोषी था पर अब नहीं हूँ'— ऐसा मानते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जायगी।

सभी दोष, सभी बन्धन दोष-युक्त मान्यता पर ही जीवित हैं। अपने में निर्दोषता की स्थापना करते ही समस्त दोष तथा बन्धन स्वतः मिट जायेंगे। दोष युक्त मान्यताएँ रोग के समान है और निर्दोषता की स्थापना औषधि के समान है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है, उसी प्रकार निर्दोषता की स्थापना दोषों को खाकर स्वतः मिट जाती है अर्थात् गुणों का अभिमान अंकित नहीं होता। दोष का अन्त होते ही अनन्त से नित्य सम्बन्ध तथा अभिन्नता हो जाती है और अहम्भाव गल जाता है, अथवा यों कहो कि अनन्त से नित्ययोग हो जाता है, जो सभी मान्यताओं से अतीत है।

साधनरूप मान्यताएँ कर्त्तव्य-परायणता में परिवर्तित होकर मिट जाती हैं और असाधनरूप मान्यताएँ केवल अस्वीकृति मात्र से मिट जाती हैं। अब विचार यह करना है कि असाधनरूप मान्यताएँ चित्त में क्यों अंकित हैं ? जिन दोष-युक्त प्रवृत्तियों के आधार पर असाधनरूप मान्यता की स्वीकृति हुई थी, वे प्रवृत्तियाँ वर्तमान में नहीं हैं, परन्तु फिर भी हम उनका त्याग नहीं करते हैं। यह 'नहीं' को 'है' मानना है। मान्यता की खोज करने से उसका अस्तित्व नहीं

मिलता और फिर उसकी स्वीकृति स्वतः मिट जाती है। पर मान्यता की खोज वही कर सकता है, जो निज—विवेक के प्रकाश में वस्तु, अवस्था आदि के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि जिसकी खोज हम ज्ञानपूर्वक करते हैं, यदि उसका अस्तित्व है, तो उससे एकता हो जाती है और यदि वह अस्तित्वहीन है, तो उससे भिन्नता हो जाती है। अथवा यों कहो कि ज्ञान द्वारा खोज करने से सत्य की प्राप्ति और असत्य की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान, निवृत्ति की प्राप्ति कराने में समर्थ है। वह सम्बन्ध तथा किसी मान्यता में सद्भाव उत्पन्न नहीं करता। मान्यता का सद्भाव मिटते ही भेद नष्ट हो जाता है और सम्बन्ध टूटते ही राग—द्वेष मिट जाते हैं। राग—द्वेष रहित होते ही किसी को बुरा—भला मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और भेद—नाश होते ही अभिन्नता तथा आत्मीयता एवं स्वरूप से एकता हो जाती है, जो योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति में हेतु है। इस दृष्टि से मान्यता केवल ऐसी वस्तु है कि खोज करने पर तो उसका पता ही न चले और बिना खोज किए सत्य प्रतीत हो।

भूतकाल की प्रवृत्तियों को सत्य तथा स्थायी मानकर कोई भी व्यक्ति अपने को सर्वांश में निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकता और प्रत्येक साधक की हुई भूल न दोहराने का व्रत लेकर वर्तमान में ही निर्दोषता से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से अपने में अथवा दूसरों में दोषी भाव की स्थापना करना केवल मान्यता के आधार पर उसमें आबद्ध रहना है, जो दोषों की पुनरावृत्ति का कारण है। अतः निर्दोष होने के लिए अपने तथा दूसरों में दोषी—भाव की अस्वीकृति अनिवार्य है, अथवा यों कहो कि सभी मान्यताओं को त्याग, मान्यताओं के प्रकाशक अनन्त से अभिन्न होने में ही निर्दोषता है। किसी भी मान्यता को सुरक्षित रखना अपने को दोषी बनाये रखना है। साधन रूप मान्यताओं को कर्त्तव्य—परायणता से तथा असाधनरूप मान्यताओं को अस्वीकृति से मिटाना होगा, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है।

मान्यता का सद्भाव विकल्परहित विश्वास है, जो ज्ञान के

समान भासता है। विश्वास का महत्त्व केवल कर्त्तव्य के प्रति, अनन्त के प्रति अथवा देह से अतीत अपने प्रति है। इसके अतिरिक्त जो विश्वास है, वह प्रमाद है। कर्त्तव्यपरायणता राग–निवृत्ति के लिए है, अनन्त का विश्वास परम प्रेम के लिए है और अपना विश्वास अमरत्व के लिए अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त साधक के जीवन में विश्वास का कोई सदुपयोग ही नहीं है। कर्त्तव्य का निर्णय प्राकृतिक विधान तथा निज–विवेक पर निर्भर है। इसी कारण कर्त्तव्य–पालन में अधिकार है, फल में नहीं। कर्त्तव्य के बदले में किसी फल की आशा करना नवीन राग में आबद्ध होना है, जो वास्तव में अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अतः परिस्थिति के सदुपयोग–मात्र में ही कर्त्तव्य का महत्त्व है। परिस्थिति का सदुपयोग सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंग करने में समर्थ है। वस्तु, अवस्था आदिं की असंगता समस्त कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कारण, कि कामनाओं की निवृत्ति होते ही चिरशान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से कामना–निवृत्ति में ही समस्त कर्त्तव्यों की परावधि है।

असाधनरूप मान्यता दूसरों की तो कौन कहे, अपने लिए भी अपने को प्रिय नहीं होती, क्योंकि अपनी दृष्टि में भी जब हम दोषी रहना नहीं चाहते, तो फिर किसी अन्य को दोषी मानना, क्या उसके प्रति घोर अन्याय नहीं है ? अवश्य है। अब रही साधनरूप मान्यता की बात, जिससे कर्त्तव्य के द्वारा मुक्त होना है। कर्त्तव्य–पालन में सभी साधकों को सर्वदा स्वाधीनता है, क्योंकि जो जिसे नहीं कर सकता वह उसका कर्त्तव्य ही नहीं है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कर्त्ता में कर्त्तव्य का ज्ञान और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य विद्यमान है पर यह रहस्य वे ही समझ पाते हैं, जो वर्तमान वस्तुस्थिति के आधार पर कर्त्तव्य–पालन तथा सत्य की खोज करते हैं। कर्त्तव्य–पालन में ही भोग की निवृत्ति और योग की प्राप्ति, असत्य की निवृत्ति और सत्य की प्राप्ति, काम की निवृत्ति

और अनन्त की प्राप्ति निहित है।

अपने सम्बन्ध में जो अपनी मान्यता है वह भी विवेकसिद्ध नहीं है, क्योंकि अपने अर्थ में 'यह' को ले नहीं सकते। बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे—शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और सभी वस्तुएँ 'यह' के अर्थ में आ जाती हैं। 'यह' से भिन्न जो 'मैं' है, उसे किसी ने कभी किसी भी करण के द्वारा विषय नहीं किया। इस दृष्टि से अपने में भी अपनी मान्यता का दर्शन नहीं होता। इतना ही नहीं, खोज करने पर शरीर आदि किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। तो फिर किसे अपना और किसे पराया मानोगे ? या तो सभी अपने हैं, या कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। जब सभी अपने हैं, तो किसको बुरा समझोगे ? ओर जिससे कोई सम्बन्ध नहीं, उसके प्रति कुछ भी कहना बनता नहीं। अतः अपने और दूसरों के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अस्तित्वहीन को स्वीकार करना विवेक का विरोध है और कुछ नहीं। विवेक के अनादर से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। अतः उसका आदर करना चाहिए।

विवेक का आदर करते ही सृष्टिरूप वस्तु जिस अनन्त के किसी अंशमात्र में भासित होती है, उससे अभिन्नता हो जायगी और सृष्टि की आसक्ति तथा दासता सदा के लिए मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जायगा और अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होगी। इस दृष्टि से सभी मान्यताओं से जो अतीत है, उसी को स्वीकार करना, उसी में विश्वास करना, उसी से नित्य सम्बन्ध जोड़ना ओर उसी का योग, बोध तथा प्रेम प्राप्त करना साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि चित्त शुद्ध होने पर ही सम्भव है और चित्त की शुद्धि अपने में और दूसरो में निर्दोषता की स्थापना करने में ही निहित है।

११–५–५६

१०

परिस्थितियों की अनित्यता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

विरह का उदित न होना, जिज्ञासा की जागृति न होना, शान्ति का सुरक्षित न रहना और निरर्थक संकल्प–विकल्पों का प्रवाह चलना चित्त की अशुद्धि है। यद्यपि विरह, जिज्ञासा तथा शान्ति–ये तीनों ही स्वाभाविक हैं, परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्रयत्न द्वारा भी साध्य नहीं है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कार्य के अन्त में विश्राम तथा शान्ति स्वतः आनी चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। उसका एक मात्र कारण यह है कि होने वाली प्रवृत्ति में कोई न कोई दोष है। प्रवृत्ति–जनित दोष की निवृत्ति के अन्त में विश्राम सम्भव है। जो प्रवृत्ति उत्कण्ठा एवं उत्साह से पूर्ण तथा स्वार्थभाव से रहित नहीं होती, उस प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम नहीं मिलता। कारण, कि उत्कण्ठा के बिना प्रवृत्ति में रस की उत्पत्ति नहीं होती और उत्साह के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं होता और स्वार्थ–भाव से रहित हुए बिना प्रवृत्ति–जनित दासता से मुक्ति नहीं मिलती। इन तीनों कारणों से प्रवृत्ति के अन्त में भी प्रवृत्ति का ही चिन्तन रहता है, जो निरर्थक संकल्प–विकल्प उत्पन्न करने में हेतु है।

उत्कण्ठा न होने में कारण है–प्राप्त परिस्थिति का अनादर। वह अनादर तभी होता है, जब साधक को प्राकृतिक न्याय के अनुसार प्राप्त परिस्थिति में अपने हित का दर्शन नहीं होता। उसका एकमात्र कारण यह है कि प्राणी उत्पत्ति–विनाश युक्त परिस्थिति को ही अपना अस्तित्व अथवा जीवन मान लेता है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण तथा अभाव युक्त है। उसमें जीवन–बुद्धि होने से अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगते हैं। उन अभावों से पीड़ित हो, प्राणी प्राप्त परिस्थिति से असन्तुष्ट होता है और अप्राप्त

परिस्थिति का आह्वान करने लगता है। वह इस बात को भूल जाता है कि ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती जो अभाव–युक्त न हो, यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति विद्यमान राग–निवृत्ति का साधनमात्र है। जो साधनमात्र है उसे साध्य मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही प्राणी कामना–पूर्ति और अपूर्ति के जाल में आबद्ध हो जाता है, जिससे सुख की आशा और दुःख का भय स्वतः उत्पन्न होता है, जो निर्दोष प्रवृत्ति में बाधक है। सदोष प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि वर्तमान कार्य करने की उत्कण्ठा ही दब जाती है, जो उत्साह को भंग कर देती है। उत्साह भंग होते ही आलस्य तथा शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक है। आलस्य के आते ही प्राणी अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है और दूसरों के कर्त्तव्य की प्रतीक्षा करने लगता है, जिससे स्वार्थ–भाव पुष्ट होता है। ज्यों–ज्यों ये दोष सबल होते जाते हैं, त्यों–त्यों निरर्थक संकल्पों का प्रवाह चलने लगता है और प्रवृत्ति के अन्त में जो स्वतः आने वाला विश्राम है, उससे साधक वंचित हो जाता है। विश्राम के बिना शान्ति सम्भव नहीं और शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। अतः दोष–युक्त प्रवृत्ति से ही जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता आती है, जो किसी को भी प्रिय नहीं है।

यह नियम है कि परिस्थिति में हीं जीवन–बुद्धि होने से जड़ता आ जाती है, जिसके आते ही प्राणी इन्द्रियों के स्वभाव में आबद्ध हो जाता है। इन्द्रियों के स्वभाव में आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है, जो वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा को शिथिल कर देती है। यद्यपि जिज्ञासा प्राणी में स्वभावसिद्ध है परन्तु इन्द्रिय–जन्य स्वभाव से तादात्म्य होने के कारण, इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित हो जाता है, जिससे वह बुद्धि–जन्य ज्ञान का अनादर करने लगता है। ज्यों–ज्यों प्राणी बुद्धि–जन्य ज्ञान का अनादर करता है, त्यों–त्यों इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढता जाता है। ज्यों–ज्यों इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढ़ता है, त्यों–त्यों वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ है। कामना-पूर्ति द्वारा सुख

की आशा ने ही जिज्ञासा को शिथिल कर दिया है। यदि इन्द्रिय जन्य ज्ञान का उपयोग वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरता पूर्वक करने में हो और बुद्धिजन्य ज्ञान से शरीर आदि वस्तुओं के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन क्षण–भंगुरता, मलिनता आदि विकारों का दर्शन होगा। बुद्धि–जन्य ज्ञान का प्रभाव ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होता जायगा, त्यों–त्यों इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिटता जायगा अर्थात् इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग होगा, पर उसका प्रभाव न रहेगा। इन्द्रिय–जन्य ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य में तथा भोग योग में बदल जायेगा और कामना निवृत्ति द्वारा चिर शान्ति प्राप्त होगी, जो जिज्ञासा–पूर्ति में समर्थ है, क्योंकि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यह सभी जानते हैं कि चित्त को स्वभाव से ही रस की माँग है, जिसकी प्राप्ति प्रीति से ही सम्भव है। जिस प्रकार प्राणी को सामर्थ्य तथा जीवन की माँग है, उसी प्रकार उसे प्रेम भी अभीष्ट है। पर प्रेम का उदय तभी सम्भव होगा, जब साधक कामना उत्पत्ति के दुःख से भयभीत न हो, कामना–पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो और कामना–निवृत्ति की शान्ति में रमण न करे अपितु प्रवृत्ति में सेवा का भाव और निवृत्ति में शान्ति से अतीत की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। क्योंकि प्रीति उसी को प्राप्त होती है, जिसकी दृष्टि सदैव प्रिय को रस प्रदान करने में रहती हो, सुख की आशा में नहीं। सुख की आशा ने ही प्राणी को प्रेम से विमुख किया है। यद्यपि प्रेम का आदान–प्रदान सभी को सर्वदा अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि प्रेम का रस निवृत्ति–पूर्ति से विलक्षण है, इसीलिए उसके आदान–प्रदान में अगाध–अनन्त रस है। परन्तु सुख–भोग की रुचि ने नित–नूतन विरह का उदय नहीं होने दिया। इस दृष्टि से सुख–भोग की रुचि का अन्त होने पर ही विरह की जागृति सम्भव है।

यह नियम है कि जो प्राणी की स्वाभाविक माँग है अर्थात् जिज्ञासा, प्रिय लालसा और शान्ति, उसकी प्राप्ति की साधना में भी

स्वाभाविकता होनी चाहिए। पर भुक्त–अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव ने उस स्वाभाविकता का अपहरण कर लिया है। जिन इच्छाओं की पूर्ति प्राणी अनेक बार कर चुका है, उन इच्छाओं की पूर्ति की वास्तविकता को उसने नहीं जाना। उसका परिणाम यह हुआ है कि भुक्त इच्छाओं ने अभुक्त इच्छाओं को जन्म देकर साधक को संकल्प–विकल्पों के द्वन्द्व में आबद्ध कर दिया है।

यदि साधक सावधानीपूर्वक इच्छापूर्ति की वास्तविकता को जानने का प्रयास करता, तो उसे भली भाँति ज्ञात हो जाता कि इच्छाओं की पूर्ति में सुख कितना है और परिणाम में पराधीनता, जड़ता एवं शक्तिहीनता कितनी है। इच्छा–पूर्ति के परिणाम का प्रभाव ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों–त्यों इच्छा–पूर्ति की दासता स्वतः मिटती जाती है। जिस काल में साधक सर्वांश में उस दासता से मुक्त हो जाता है, उसी काल में इच्छापूर्ति का प्रभाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही साधन में स्वतः स्वाभाविकता आ जाती है।

कामना–पूर्ति के सुख का प्रभाव रहते हुए साधक जब बल पूर्वक शान्ति एवं जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा को जाग्रत करने का प्रयास करता है, तब सफल नहीं होता। कारण, कि भुक्त इच्छाओं के सुख के प्रभाव ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। अतः चित्त के अशुद्ध रहते हुए शान्ति, जिज्ञासा एवं लालसा की जागृति सम्भव नहीं है।

जब तक साधक वस्तु, आदि के आश्रय के बिना रह नहीं सकता, तब तक चित्त शुद्ध हो नहीं सकता और जब तक वस्तुओं के स्वरूप को जानकर सत्य की खोज नहीं करता, तब तक वस्तु आदि के आश्रय से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्य की खोज में ही असत्य का त्याग और असत्य के त्याग में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

प्राप्त विवेक के प्रकाश में साधक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास किये बिना ही बलपूर्वक चित्त को वस्तुओं से हटाना चाहता है, अथवा यों कहो कि चित्त में जो वस्तुओं का

अस्तित्व अंकित है, उसे निकालना चाहता है, पर सफल नहीं होता। उसका एकमात्र कारण यह है कि बलपूर्वक जिसे दबाया जाता है, वह कभी न कभी निकल ही जाता है, क्योंकि श्रम के बाद विश्राम अनिवार्य है। इसी कारण दबा हुआ चित्त साधक के अधीन नहीं रहता। कभी साधक चित्त को दबाता है और कभी चित्त साधक को दबाता है। साधक और चित्त के मध्य संघर्ष उस समय तक चलता ही रहता है, जब तक साधक विवेकपूर्वक वस्तुओं की वास्तविकता को जान, वस्तुओं से अतीत के जीवन से नित्य सम्बन्ध तथा उससे स्वरूप की एकता स्वीकार नहीं कर लेता।

वस्तुओं से अतीत के जीवन से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते ही साधक में स्वभाव से ही उसके प्राप्त करने की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जिसके होते ही चित्त को वस्तुओं से हटाने का प्रयास नहीं करना पड़ता, अपितु चित्त स्वतः हट जाता है। यह नियम है कि असत् जान लेने पर सत् की खोज स्वतः जाग्रत होती है। ज्यों–ज्यों सत् की खोज सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों असत् से सम्बन्ध तथा असत् की कामना अपने आप मिटती जाती है, जिसके मिटते ही चित्त स्वभाव से ही असत् से विमुख होकर सत् से अभिन्न हो जाता है। परन्तु असत् को असत् जाने बिना असत् से चित्त को हटाने का प्रयास निरर्थक ही सिद्ध होता है। अतः असत् को असत् जानकर ही सत् की खोज करनी चाहिए। कारण, कि असत् के ज्ञान में ही सत् की खोज करने की सामर्थ्य निहित है।

वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। इस रहस्य को जान लेने पर चित्त स्वभाव से हीं वर्तमान कार्य में लग जाता है चित्त पर दबाब डालकर उसे लगाना नहीं पड़ता है। यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होने पर बिगड़े हुए भूत का परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। वर्तमान बिगड़ने से भविष्य कभी सुन्दर नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वर्तमान का परिणाम ही भविष्य

होता है। इस दृष्टि से साधक को वर्तमान कार्य बड़ी ही सुन्दरतापूर्वक, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए।

आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य के त्याग में ही शान्ति निहित है, क्योंकि आवश्यक कार्य न करने से और अनावश्यक कार्य चित्त में जमा रखने से ही अशान्ति रहती है। अतः आवश्यक कार्य कर डालने पर और अनावश्यक कार्य का त्याग करने से चित्त स्वतः शान्त हो जाता है।

सत्य की खोज, प्रिय—लालसा, शान्ति तथा वर्तमान कार्य का आदर— इन चारों की ओर प्रगति होने पर तो चित्त साधक के अधीन रहता है। इनके अतिरिक्त किसी में भी यदि चित्त को लगाना चाहे, तो चित्त स्वभाव से लग नहीं सकता और अस्वाभाविकता से अर्थात् बलपूर्वक लगाया हुआ चित्त कभी स्थिर नहीं रह सकता। यहाँ तक कि साधारण दैनिक कार्यों में श्रमपूर्वक दबाव डालकर जब चित्त को लगाना पड़ता है, तब उसका परिणाम यह होता है कि चित्त में उत्तरोत्तर नीरसता, मलिनता और शक्तिहीनता बढ़ती जाती है, जिससे कार्य के अन्त में भी चित्त स्थिर नहीं हो पाता। स्थिरता के बिना चित्त शान्त तथा प्रसन्न तो हो ही नहीं सकता।

यद्यपि प्रत्येक कार्य के अन्त में स्थिरता तो स्वभाव से ही आती है। पर वह स्थिरता इतनी निर्जीव हो गई है कि उससे चित्त शान्त नहीं हो पाता। कारण, कि कार्य में प्रवृत्ति आसक्तिपूर्वक होती है। यह नियम है कि जो कार्य जिस भाव से किया जाता है, अन्त में उसका परिणाम भी वही होता है। अतः आसक्तिपूर्वक किया हुआ कार्य आसक्ति को ही दृढ़ करता है, जिससे कार्य के अन्त में चित्त में स्वाभाविक स्थिरता नहीं आती। प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक आवश्यक कार्य आसक्ति—निवृत्ति का साधन है। किन्तु स्वार्थभाव ने उसे नवीन राग की उत्पत्ति का हेतु बना दिया है। यदि चित्त शुद्ध करना है तो प्रत्येक कार्य स्वार्थभाव को त्याग, सावधानीपूर्वक करना होगा, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो जायगी और नवीन राग उत्पन्न न होगा। राग-रहित होते ही द्वेष स्वतः मिट जायगा, जिसके

मिटते ही हृदय में स्नेह की वृद्धि होगी। स्नेह की वृद्धि से चित्त की नीरसता–खिन्नता मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शान्त तथा प्रसन्न हो जायगा। ज्यों–ज्यों चित्त में शान्ति तथा प्रसन्नता बढ़ती जायगी, त्यों–त्यों चित्त स्वस्थ होता जायगा। चित्त के स्वस्थ होते ही जो करना है, वह स्वतः होने लगेगा और जो नहीं करना है उसकी उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् चित्त निर्दोष हो जायगा। निर्दोषता आते ही चित्त में से वस्तुओं का आश्रय स्वतः मिट जायगा और सत् की खोज उदित होगी, जो समस्त कामनाओं को खा जायगी। कामनाओं का अन्त होते ही निरर्थक संकल्प स्वतः मिट जायेंगे और आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे हो जायेंगे। पर संकल्प–पूर्ति का सुख चित्त में अंकित न होगा, जिससे निर्विकल्पता स्वभाव से ही आ जायगी, जिसके आते ही जो हो रहा है, उसी में अखण्ड प्रसन्नता सुरक्षित रहेगी। अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय मिट जायगा। निर्भय होते ही चिर–विश्राम, अगाध–प्रीति, निस्सन्देहता स्वतः प्राप्त होगी, जो वास्तविक जीवन है। अतः साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय को त्याग, चित्त शुद्ध करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए।

१२–५–५६

११

भय तथा प्रलोभन से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

भय तथा प्रलोभन में आबद्ध होना ही चित्त की अशुद्धि है। अतः चित्त–शुद्धि के लिए इन दोनों का अन्त करना होगा। अब विचार यह करना है कि भय तथा प्रलोभन की उत्पत्ति ही क्यों होती है ? जब हमारी प्रसन्नता किसी और पर, अर्थात् जो अपना नहीं है, अथवा अपने से भिन्न है, उस पर निर्भर हो जाती है, तब अनेक

प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

वस्तुओं की ममता, विश्वास में विकल्प, विवेक का अनादर—इन तीन कारणों से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कोई भी वस्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्तिगत नहीं है, क्योंकि किसी भी वस्तु का समष्टि शक्तियों तथा सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता। परन्तु प्राणी प्रमादवश काल्पनिक भेद स्वीकार कर वस्तुओं को अपनी मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपना है, उसे अपना नहीं मान पाता और जो अपना नहीं है, उसे अपना मान बैठता है। जो अपना है, उसे अपना न मानना उससे मानी हुई भिन्नता स्वीकार करना है और जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना मानी हुई एकता स्वीकार करना है। मानी हुई भिन्नता ने अपने से अपनी प्रीति नहीं होने दी और मानी हुई एकता से अनेक प्रकार की आसक्तियाँ उत्पन्न हो गईं, जिन्होंने प्राणी को पराधीन बना दिया, जड़ता में आबद्ध कर दिया, जिससे अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो गये। जब तक मानी हुई एकता और मानी हुई भिन्नता का अन्त न कर दिया जाय, तब तक प्रलोभन से मुक्त होना सम्भव नहीं है। इन दोनों में से किसी एक का अन्त होने पर दोनों का अन्त हो जाता है, क्योंकि मानी हुई एकता से ही अपने से मानी हुई भिन्नता की उत्पत्ति होती है और मानी हुई भिन्नता से ही 'पर' से मानी हुई एकता की उत्पत्ति होती है।

क्या कोई ऐसी वस्तु है जिससे मानी हुई एकता न हो ? अर्थात् सभी वस्तुओं से एकता केवल मानी हुई है। जब साधक विवेकपूर्वक किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानेगा, तब सुगमता—पूर्वक वस्तुओं की दासता से मुक्त हो जाएगा। वस्तुओं की दासता से मुक्त होते ही सभी कामनाएँ मिट जायेंगी। कामनाओं का अन्त होते ही अपने से जो अपनी दूरी तथा भेद प्रतीत होता था, वह स्वतः मिट जायेगा, जिसके मिटते ही समस्त भय तथा प्रलोभन निर्मूल हो जायेंगे।

वस्तुओं को अपना न मानने में कठिनाई क्या है ? 'जो जान हैं, उसे नहीं मानते', यही भूल वस्तुओं को अपना न मानने में प्रा को समर्थ नहीं होने देती। अपनी जानकारी के विरोध को सहन क लेने से ही प्राणी वस्तुओं को अपनी मानता है। जानकारी के विरो को सहन कर लेना ही असावधानी है, जो मृत्यु के समान है।

यद्यपि साधक के जीवन में असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि असावधानी ही प्राणी को अमरत्व से मृत्यु, सत्य से असत्य और चेतना से जड़ता की ओर ले जाती है। भोगासक्ति ने ही प्राणी को असावधान बना दिया है। अतः असावधानी का अन्त करने के लिए भोगासक्ति का अन्त करना होगा और भोगासक्ति का अन्त करने के लिए भोग की वास्तविकता को जानना अनिवार्य है। भोग की रुचि में जितनी मधुरता है उतनी भोग–प्रवृत्ति में नहीं है। भोग–प्रवृत्ति के आरम्भकाल में जितना सुख है, उतना मध्य में नहीं है और अन्त में तो सुख की गन्ध भी नहीं रहती, अपितु उसके परिणाम में तो अनेक प्रकार के रोग ही उत्पन्न होते हैं। भोग की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर भोग की रुचि योग की लालसा में बदल जाती है। योग की लालसा ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों भोग–वासनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिस काल में भोग–वासनाओं का अन्त हो जाता है, उसी काल में योग की उपलब्धि हो जाती है और सभी वस्तुओं से ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही निर्भयता स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त वस्तुओं की ममता से और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित हो सकता है, जो विवेक–सिद्ध हैं। अब यह विचार करना है कि भोग की रुचि की उत्पत्ति क्यों होती है ? अपने को देह मानकर इन्द्रिय–जन्य स्वभाव से तद्रूप हो जाने से भोग की रुचि उत्पन्न होती है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह से असंग कर लिया जाय अर्थात् देह से जो मानी हुई एकता है, उसका त्याग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग की रुचि का अन्त हो सकता है। भोग की रुचि के अन्त में ही

भोग–वासनाओं का अन्त निहित है।

अब विचार यह करना है कि देह से असंग होने में प्रतिबन्ध क्या है ? निज-विवेक का अनादर और इन्द्रियों के ज्ञान का आदर ही साधक को देह से असंग नहीं होने देता। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग भले ही हो, पर आदर निज–विवेक का होना चाहिए। निज–विवेक के आदर से इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव, जो चित्त पर अंकित है, वह मिट जाएगा, जिसके मिटते ही भोग की रुचि स्वतः नष्ट हो जाएगी, जिसके होते ही देह से असंगता आ जाएगी, जो भोग–वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। भोग–वासनाओं का अन्त होते ही अपने से जो भिन्न है उससे वियोग और अपने से अपना नित्य योग स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही चिर–शान्ति, स्वाधीनता एवं अमरत्व तथा चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जायगी। उसके हुए बिना साधक न तो वस्तुओं की दासता से मुक्त हो सकता है और न भय तथा प्रलोभन ही मिटा सकता है। इस दृष्टि से जिन वस्तुओं से मानी हुई एकता स्वीकार कर ली थी, उनसे असंगता और जो अपने से अपनी मानी हुई दूरी तथा भेद उत्पन्न हो गया था, उसका अन्त करना अनिवार्य है। इसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अपने में अपना योग स्वाभाविक है और वस्तुओं से संयोग अस्वाभाविक है। वस्तुओं के संयोग में ही अपना महत्त्व समझना दीनता तथा अभिमान में आबद्ध होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नियम है कि जो अस्वाभाविक है, उससे नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसमें जीवन नहीं है। अतः जो साधक वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विकल्प-रहित विश्वास कर लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक समस्त प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है और उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती, अपितु अपने ही में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। वास्तव में अपने से अपना वियोग हो ही नहीं सकता, परन्तु वस्तुओं के संयोग में जीवन–बुद्धि स्वीकार करने से ही प्राणी अपने नित्य–योग को भूल गया है, जिसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिए, अथवा यों कहें कि जो नित्य प्राप्त है, उससे

प्रीति हो जानी चाहिए। वह तभी सम्भव होगी, जब सभी कामनाओं का अन्त कर दिया जाय, जो विवेकसिद्ध है। कामनाओं का अन्त होते ही दृष्टि बिना ही दृश्य के और चित्त बिना ही आधार के शान्त हो जाता है, जो सहज योग है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग के भय से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि वस्तु, व्यक्ति आदि का वियोग स्वाभाविक है, परन्तु उनके वियोग में जो नित्ययोग स्वतः सिद्ध है, उसकी ओर अग्रसर न होने से प्राणी व्यर्थ ही भयभीत होता है। यह सभी जानते हैं कि गहरी नींद में प्राणी प्रिय से प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग स्वभाव से ही अपना लेता है और उस अवस्था में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता, अपितु जाग्रत अवस्था में यही कहता है कि बड़े सुख से सोया। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी स्मृति अनुभूति के बिना नहीं हो सकती। गहरी नींद में कोई दुःख नहीं था, यह अनुभूति क्या साधक को वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन की प्रेरणा नहीं देती ? अर्थात् अवश्य देती है। इस अनुभूति का आदर न करने से ही प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होता है। अब यदि कोई यह कहे कि गहरी नींद में तो जड़ता थी, इस कारण दुःख नहीं प्रतीत हुआ। गहरी नींद के समान स्थिति यदि जाग्रत में प्राप्त करली जाय, तो यह सन्देह निर्मूल हो जाएगा और यह स्पष्ट बोध हो जाएगा कि वस्तु, व्यक्ति आदि के बिना भी जीवन है और उस जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में प्राणी क्यों आबद्ध हो गया है ? अपने को वस्तु मानकर। यद्यपि वस्तु का ज्ञान जिसको है, वह स्वयं वस्तु नहीं है, परन्तु यदि वह अपने को ही वस्तु मान बैठे, तो वह फिर अनेक वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। साधक इन्द्रियों के द्वारा जिन वस्तुओं, व्यक्तियों को देखता है और बुद्धि के द्वारा जिन वस्तुओं, व्यक्तियों को जानता है और जिस ज्ञान से बुद्धि तथा इन्द्रियों को जानता है, उस ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है, वह वस्तु ही है। वस्तु और ज्ञान

में अन्तर यह है कि कोई भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती, किन्तु ज्ञान अपने को और अपने से भिन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता है। उस स्वयं–प्रकाश ज्ञान को वस्तु नहीं कह सकते। उस ज्ञान में जिसका योग है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक गहरी नींद के समान उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें दुःख नहीं है। इतना ही नहीं, गहरी नींद में जड़ता के कारण साधक उस ज्ञान से अभिन्न नहीं हो पाता, परन्तु जाग्रत में अभिन्न हो सकता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन में दुःख तथा अभाव नहीं है। तो फिर वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होना केवल अपनी भूल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अतः भूल का अन्त होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग का भय स्वतः मिट जाता है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सम्बन्ध तथा विश्वास के आधार पर ही वस्तु, व्यक्ति आदि से एकता का भास होता है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनका विश्वास मिट जाता है और सम्बन्ध–विच्छेद होने पर वस्तुओं से भिन्नता का बोध हो जाता है, वस्तुओं का विश्वास मिटते ही लोभ, मोह आदि सभी दोष मिट जाते हैं और वस्तुओं से भिन्नता का अनुभव होते ही अमरत्व प्राप्त होता है। लोभ, मोह आदि दोषों के मिटते ही हानि का भय और लाभ का प्रलोभन, वियोग का भय और संयोग का प्रलोभन स्वतः मिट जाता है।

वस्तुओं और व्यक्तियों के विश्वास और सम्बन्ध को अल्प से अल्प काल के लिए भी यदि तोड़ कर अनुभव किया जाय, तो उस जीवन में कितना रस है ! इसकी तुलना उस सुख से नहीं की जा सकती, जो अनन्त काल से वस्तु और व्यक्तियों के सम्बन्ध से मिलता रहा है। पर ऐसा विश्वास उन्हीं साधकों को होना सम्भव है, जो चित्त की अशुद्धि को सहन नहीं कर सकते। अशुद्धि–जनित सुख की लोलुपता में आसक्त बेचारा प्राणी उस रस की लालसा ही नहीं कर पाता, जो उसका अपना ही है।

वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद होते ही प्राणी राग–रहित हो

जाता है। राग–रहित होते ही योग के साम्राज्य में स्वतः प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं, आवश्यक संकल्प कर्त्तृत्व के अभिमान के बिना ही स्वतः पूरे हो जाते हैं और उन संकल्पों की पूर्ति का सुख चित्त में अंकित नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग हो जाता है। यदि योग से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय पुनः भोग में न किया जाय, तो साधक का बोध के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जो अखण्ड नित्य जीवन है। योग के साम्राज्य में पराधीनता, असमर्थता एवं अशान्ति नहीं रहती। बोध के साम्राज्य में किसी प्रकार का भय तथा सन्देह नहीं रहता। निस्सन्देहता तथा निर्भयता आते ही अपने में ही अपने प्रेमास्पद को प्राप्त कर प्राणी अगाध, अनन्त रस से छक जाता है, क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान–प्रदान है, जो रस रूप है। प्रेम, प्रेमी का जीवन और प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होने पर किसी प्रकार का प्रलोभन शेष नहीं रहता, क्योंकि समस्त प्रलोभन व्यक्तित्व के अभिमान से ही जीवित हैं। और प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश तभी होता है, जब व्यक्तित्व का अभिमान गल जाय। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम के साम्राज्य में अशान्ति, भय एवं प्रलोभन आदि सब प्रकार की अशुद्धियों का अन्त हो जाता है। बस, यही चित्त की शुद्धि है।

१३–५–५६

१२

नीरसता और खिन्नता से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

वर्तमान नीरस हो जाने पर अर्थात् सरस न रहने से भी चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण, कि नीरसता खिन्नता को, खिन्नता क्षोभ

को, क्षोभ क्रोध को और क्रोध कर्त्तव्य की विस्मृति को उत्पन्न करता है। यह नियम है कि कर्त्तव्य की विस्मृति से ही अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति होती है, जो अवनति का मूल है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान नीरस क्यों होता है ? प्राकृतिक विधान में अपना हित निहित है–इसको भूलने से, प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर अपने पर अविश्वास करने से, निर्बल से निर्बल प्राणी का भी कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य–परायणता में विकास है–इस मूल सिद्धान्त को न मानने से वर्तमान नीरस हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक न्याय क्षोभ तथा क्रोध से रहित है। इतना ही नहीं, अपितु उदारता तथा हित–कामना से भरपूर भी है। अतः प्रतिकूल परिस्थिति से भयभीत होना सर्वथा निरर्थक है। भयभीत होते ही प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता। इस कारण वर्तमान नीरस हो जाता है।

अपने पर अविश्वास होने से अपने कर्त्तव्य पर भी विश्वास नहीं रहता। यह नियम है कि जिसे कर्त्तव्य पर विश्वास नहीं रहता, उसे अपने लक्ष्य पर भी विश्वास नहीं रहता। लक्ष्य–विहीन प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो, अधीर हो जाता है, अर्थात् जीवन–संग्राम में हार स्वीकार कर व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से अपने पर अविश्वास समस्त अनर्थों का मूल है। अपने पर विश्वास का अर्थ देह आदि वस्तुओं का विश्वास नहीं है, प्रत्युत् वस्तुओं पर अविश्वास होने पर ही अपने पर विश्वास होता है। और अपने पर विश्वास होने पर ही उस अनन्त पर विश्वास होता है,जो सभी का सब कुछ है। अपने पर विश्वास होने पर ही प्राकृतिक विधान में श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से अपने पर अपना विश्वास ही सब प्रकार के विकास का मूल है।

अपने पर विश्वास होते ही निर्बल से निर्बल प्राणी भी कर्त्तव्य–परायण हो सकता है। कारण, कि निर्बलता अनन्त बल पर

निर्भर होने की प्रेरणा देती है। निर्बलता अनन्त बल की माँग है और कुछ नहीं। यदि बल कामना–पूर्ति के लिए साधन–मात्र है, तो निर्बलता की वेदना कामना–निवृत्ति की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। प्रत्येक प्राणी कामना–पूर्ति के पश्चात् उस स्थिति में आता है, जिस स्थिति में वह कामना–उत्पत्ति से पूर्व था। इस दृष्टि से कामना–पूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसकी अपेक्षा कामना–निवृत्ति का कहीं अधिक महत्त्व है। अतः निर्बल से निर्बल प्राणी का भी कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य से निराश होना केवल अपने पर अविश्वास करना है और कुछ नहीं। यह नियम है कि कर्त्तव्य–परायणता सफलता की कुञ्जी है। अतः जीवन–संग्राम में हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वर्तमान की नीरसता कर्त्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्त्तव्यपूर्वक उस नीरसता को मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु वह उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है, क्योंकि अकर्त्तव्य से असफलता ही होती है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वर्तमान की नीरसता के कारण ही प्राणी क्षुभित और क्रोधित होता है। क्षुभित होने से प्राप्त शक्ति का ह्रास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पत्ति होती है, जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में अपने को असमर्थ पाता है, अर्थात् उसे उचित मार्ग नहीं मिलता। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में सर्वथा स्वाधीन है, परन्तु अधीर हो जाने के कारण जानते हुए न जानने के समान और मानते हुए न मानने के तुल्य हो जाता है। इतना ही नहीं, जो कर सकता है, उसके करने में भी अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो न होने वाली बातें हैं, उनका चिन्तन करने लगता है और जो होने वाली बातें हैं, उनसे अपने को बचाता है। इस भयंकर परिस्थिति में ही प्राणी पागल होता है, आत्म–हत्या करने की सोचता है, दूसरों के दुःख की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसका मस्तिष्क इच्छापूर्ति के चिन्तन में ही लगा रहता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का अनादर होने लगता है। यह नियम है कि प्राप्त

परिस्थिति के सदुपयोग से वर्तमान सरस होता है और भविष्य आशाजनक हो जाता है। अतः प्राप्त परिस्थिति का अनादर करना सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि उससे चित्त अशुद्ध ही होता है। किन्तु वर्तमान की नीरसता से अपने प्रति ग्लानि और प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है, जिससे प्राणी के स्वभाव में चिड़चिड़ापन, कटुता आदि अनेक दोष आ जाते हैं, जिससे मानसिक व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उस व्यथा को मिटाने के लिए बेचारा प्राणी मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है, पर–निन्दा में रत रहता है और अपने में मिथ्या गुणों एवं वैभव का आरोप करता है, अर्थात् हवाई किले बनाता रहता है। पर इन सब मिथ्या उपचारों से उसकी मानसिक व्यथा दूर नहीं होती, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। ऐसी दशा में किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाय और वह प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लग जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी विकार मिट जायेंगे। पर यह तभी सम्भव होगा, जब वह अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी न किसी कार्य में लगा रहे। यह नियम है कि श्रमी जीवन में संयम तथा सदाचार स्वतः आने लगता है, जिसके आते ही मानसिक खीझ मिटने लगती है। ज्यों–ज्यों खीझ मिटती जाती है, त्यों–त्यों मन में स्थिरता तथा शान्ति अपने आप बढ़ती जाती है। ज्यों–ज्यों स्थिरता एवं शान्ति बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों पराधीनता मिटती जाती है और स्वाधीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है, जिसके होते ही वर्तमान सरस हो जाता है, जो विकास का मूल है।

नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही नहीं आती और सरसता केवल अनुकूलता की देन नहीं है। कितनी ही भयंकर प्रतिकूलता क्यों न हो, यदि प्राणी हार स्वीकार नहीं करता और धैर्य को नहीं त्यागता, तो उसका वर्त्तमान नीरस नहीं हो सकता, अपितु प्रतिकूलता की वेदना एक नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है। यह प्राकृतिक नियम है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति तो विकास का ही साधन है, नीरसता का नहीं। अनुकूलता तो प्राणी को सुख में ही आबद्ध करती है। यह नियम है कि सुख से दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। दबा

हुआ दुःख बढ़ता ही है, घटता नहीं। अतः अनुकूलता से ही नीरसता मिटेगी–यह मान लेना भूल है। इतना ही नहीं, अनुकूलता जड़ता में आबद्ध कर वर्तमान को नीरस बना देती है। वर्तमान को सरस बनाने में अनुकूलता भी तभी समर्थ हो सकती है, जब उसमें उदारता–जनित करुणा आ जाय, अर्थात् पर–दुःख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतु प्रत्येक परिस्थिति में दुःख ही है। प्रतिकूल परिस्थिति का जो दुःख है, उससे यदि हम भयभीत न हों, तो त्याग के द्वारा वर्त्तमान सरस बन सकता है।

अनुकूल परिस्थिति में जो सरसता 'उदारता' से आती है, वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति में 'त्याग' से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमान को सरस बनाने में हेतु नहीं है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने में समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि प्रतिकूलता जीवन में आती ही क्यों है, जब कि प्राकृतिक न्याय उदारतापूर्वक है ? तो उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुकूल परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा जब प्राणी सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं हो पाता, अपितु अनुकूल परिस्थिति की दासता में ही आबद्ध हो जाता है, तब उस दासता से मुक्त करने के लिए प्रतिकूल परिस्थिति आती है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय सर्वदा प्राणी के लिए हितकर ही है। अतः प्राकृतिक न्याय के प्रति सदैव श्रद्धा रखनी चाहिए। इस दृष्टि से जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसमें प्राणी का कभी अहित नहीं है। अहित होता है प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग न करने से। यह नियम है कि परिस्थिति के सदुपयोग के बिना प्राणी सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है।

जब तक प्राणी अपने विकास के लिए अपने को पराधीन मानता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चित्त की शुद्धि अपने ही कर्त्तव्य पर निर्भर है। उसके लिए किसी दूसरे के

कर्त्तव्य की ओर नहीं देखना है और न अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का आह्वान करना है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर अप्राप्त योग्यता तथा वस्तु स्वतः प्राप्त होती है। वस्तुओं तथा योग्यता का अभाव तभी तक रहता है, जब तक प्राणी प्राप्त वस्तु तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं करता। कर्त्तव्यपालन के लिए सामर्थ्य देना उस अनन्त का विधान है। साधक को तो केवल प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करना है। अतः बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में अप्राप्त की प्राप्ति निहित है। विवेक के अनादर तथा बल के दुरुपयोग से ही प्राणी पराधीन हो गया है। यह पराधीनता उसकी अपनी बनाई हुई भूल है। यह नियम है कि भूल को जान लेने पर भूल स्वतः मिट जाती है। कर्त्तव्यपालन प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही समाज का सहयोग, तथा प्राकृतिक विधान की अनुकूलता स्वतः प्राप्त होती है। प्राणी अपने अकर्त्तव्य से ही वर्तमान को नीरस बना लेता है। अभाव की वेदना में अभाव का अभाव करने की सामर्थ्य है। वेदना और नीरसता में एक बड़ा भेद है। नीरसता खिन्नता प्रदान कर क्षुब्ध कर देती है, जिससे प्राणी भयभीत होकर कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। किन्तु वेदना ज्यों–ज्यों सबल होती है, त्यों–त्यों प्राणी में उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य–परायणता आती है और ज्यों–ज्यों कर्त्तव्यपरायणता आती है, त्यों–त्यों आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आती है। आई हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से प्राणी स्वाधीनता और निस्सन्देहता प्राप्त कर लेता है। स्वाधीनता तथा निस्सन्देहता आने पर नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

प्रतिकूल परिस्थिति भोग में भले ही बाधक हो, पर योग में नहीं। इस दृष्टि से प्रतिकूलता का भय सत्य के जिज्ञासु साधक के लिए कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु सत्य की खोज में सहयोग ही देता है। प्रतिकूलता से भय उन्हीं प्राणियों को होता है, जो वस्तुओं से अतीत के जीवन में विश्वास नहीं करते। वस्तुओं के विश्वास के आधार पर ही प्राणी अपने वास्तविक विश्वास को खो बैठा है। अपने विश्वास को खोकर ही बेचारा प्राणी खिन्नता, नीरसता, क्षोभ, क्रोध

आदि में आबद्ध हो गया है।

इस दृष्टि से अपने विश्वास को सुरक्षित रखने के लि वस्तुओं की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है। जो अपने पर विश्व कर सकता है, उसकी प्राकृतिक न्याय में श्रद्धा हो सकती है वही अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से अ हो सकता है। यह नियम है कि निर्भय प्राणी का ही वर्तमान स होता है और जिसका वर्तमान सरस होता है, वही विकास की अग्रसर होता है।

समस्त विकारों की भूमि चित्त की खिन्नता है और सब प्र का विकास चित्त की प्रसन्नता में निहित है। इस दृष्टि से चित्त–शु जीवन का आवश्यक अंग है। वह तभी सम्भव होगा, जब प्रा कामना–अपूर्ति के भय और कामना–पूर्ति की दासता से र होकर कामना–निवृत्ति की शान्ति से असंग हो जाय। यही प्राणी परम पुरुषार्थ है, जो प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है।

१५–४–५६

१३

स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त–शुद्धि के बिना न तो चित्त में स्थिरता आती है और प्रसन्नता तथा निर्भयता। स्थिरता के बिना न तो प्राणी शान्ति पाता है और न किसी कार्य की ही सिद्धि होती है। प्रसन्नता के बि न तो क्षोभ का ही अन्त होता है और न नित–नव उत्साह जागृति होती है। निर्भयता के बिना न तो आवश्यक शक्ति विकास ही होता है और न प्राप्त शक्ति का सदुपयोग ही। इस दृ से चित्त में स्थिरता, प्रसन्नता एवं निर्भयता का होना जीवन

सार्थकता के लिए परम आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी अपनी अनुभूति का आदर करने में समर्थ हो, जो जानता है उसका अनादर न करे, अर्थात् उसके ज्ञान और जीवन में एकता हो जाय। ज्ञान और जीवन की एकता में ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त-शुद्धि होते ही उसमें स्थिरता, प्रसन्नता तथा निर्भयता स्वतः आ जायगी।

अब विचार यह करना है कि जो हो चुका है और जो हो रहा है, उसका प्रभाव चित्त पर क्या है ? जो हो चुका है, उसकी स्मृति और उसका सम्बन्ध चित्त में अंकित है, पर जिस वस्तु की स्मृति है, वह वस्तु अब उस रूप में नहीं है, अर्थात् उसका वियोग हो गया है, परन्तु फिर भी उससे सम्बन्ध बना हुआ है। स्मृति और सम्बन्ध के आधार पर ही चित्त में उन वस्तुओं का अस्तित्व अंकित है, जो वर्त्तमान में नहीं हैं। जो वस्तुयें नहीं हैं, उनके अस्तित्व को स्वीकार करने में निज-अनुभूति का विरोध है। इस विरोध के अनादर से ही, चित्त अशुद्ध हो गया है, जिससे चित्त की स्थिरता भंग हो गई है।

जो हो रहा है, उस पर यदि विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं, वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं, वह किसी की उत्पत्ति है। उत्पत्ति–विनाश के क्रम में ही स्थिति का भास होता है। उसी के आधार पर जब हम किसी वस्तु की सत्यता, अथवा उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं, तब चित्त में उन वस्तुओं का राग अंकित हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। राग की भूमि में ही समस्त कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी अपूर्ति में प्राणी क्षुभित होता है, अभाव का अनुभव करता है, जिससे प्रसन्नता भंग हो जाती है। कामनाओं की पूर्ति में प्राणी सुख का अनुभव करता है और जिन वस्तुओं से कामना की पूर्ति होती है, उन वस्तुओं के अधीन हो जड़ता में आबद्ध हो जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि अपने अस्तित्व को ही भूल जाता है और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा क्या उसमें सतत परिवर्तन नहीं हैं ? अर्थात् अवश्य है। तो फि किसी भी वस्तु के अस्तित्व को उसी रूप में स्वीकार करना जि रूप में इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत हो रहा है, क्या प्रमाद नहीं है अर्थात् अवश्य है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्थिति सि नहीं होती। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उससे नि सम्बन्ध स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है। उसी का परिणा यह हुआ है कि प्राणी लोभ, मोह आदि विकारों में आबद्ध हो गया है लोभ में आबद्ध होने से ही संग्रह की रुचि उत्पन्न हो गई है औ संग्रह से ही जीवन में जड़ता आ गई है, जिससे परिवर्तनशी वस्तुओं का महत्त्व इतना बढ़ा दिया है कि जिन वस्तुओं का उपयो प्राणियों की सेवा में था, उनका प्रयोग उसमें न करके वह उन द्वारा सिक्कों का ही संग्रह करने लगा है, जिसने परस्पर अने प्रकार के भेद उत्पन्न कर दिए है, जो संघर्ष का मूल हैं। इतना ही नहीं, वस्तु में ही जीवन–बुद्धि हो गई है, जिससे प्राणी अपनी चेतन से ही अपने को विमुख कर बैठा है और मोह में आबद्ध हो गया है प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ दरिद्रता का कारण है और मो भेद को उत्पन्न करता है। भेद सीमित अहम्भाव को पुष्ट करता और दरिद्रता अभाव को जन्म देती है, जिससे प्राणी के चित्त में तो प्रसन्नता रहती है और न निर्भयता। प्राकृतिक विधान में वस्तु की न्यूनता नहीं है। कारण, कि प्रत्येक वस्तु अनन्त है। ऐसा को बीज नहीं, जिसमें अनेक वृक्ष न विद्यमान हों, अर्थात् कोई गणना ही नहीं कर सकता कि प्रत्येक दाने में से कितने दाने निकल सकते हैं इतना ही नहीं, 'कुछ नहीं' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। तो फि जीवन में आवश्यक वस्तुओं का अभाव क्यों ? अर्थात् अभाव नह होना चाहिए। परन्तु लोभ ने उदारता का अपहरण कर लिया औ संग्रह को जन्म दिया। उदारता के बिना सर्व–हितकारी सद्भावना सुरक्षित नहीं रहतीं। सर्व–हितकारी भाव के बिना कोई भी प्राण कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कर्त्तव्य–परायणता के बिना न त परस्पर में स्नेह रहता है और न आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इ

दृष्टि से वस्तुओं के महत्त्व ने प्राणी को वस्तुओं से वंचित किया और चिन्मय जीवन से भी विमुख कर दिया।

यह नियम है कि जिससे जितना अधिक हित होता है, उसको प्रकृति के विधान से उतनी ही अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सामर्थ्य का अभाव केवल स्वार्थ–भाव तथा प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग में ही निहित है। ज्यों–ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, त्यों–त्यों प्रकृति उसे सामर्थ्यशाली बनाती है। जैसे, जिन वृक्षों से दूसरे वृक्षों को पोषण मिलता है, उनकी आयु भी अपेक्षाकृत अधिक होती है और वे दूसरे वृक्षों से पोषित भी होने लगते हैं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक विधान के अनुसार वे ही सुरक्षित रह सकते हैं, जो उदार हैं। उदार वे ही हो सकते हैं, जो निर्लोभ हैं और निर्लोभ वे ही हो सकते हैं, जो वस्तुओं से अपना महत्त्व अधिक जानते हैं।

निर्लोभता आते ही मोह–रहित होने की सामर्थ्य भी स्वतः आ जाती है, क्योंकि निर्लोभता वस्तुओं में जीवनबुद्धि नहीं होने देती। वस्तु में जीवनबुद्धि के बिना मोह की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। मोह की उत्पत्ति के बिना भेद की उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं होती और भेद की उत्पत्ति के बिना सीमित अहम् का भास ही नहीं होता। अहम् भाव के बिना काम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और काम की उत्पत्ति के बिना चित्त अशुद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से वस्तुओं के महत्त्व ने ही काम को उत्पन्न किया और उसी से अभाव की उत्पत्ति हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि इच्छाओं की उत्पत्ति हो गई और इच्छित वस्तुओं का अभाव हो गया, अर्थात् इच्छाओं की अपूर्ति की परिस्थिति में आबद्ध होकर प्राणी स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भरता से रहित हो गया, जो चित्त की अशुद्धि है।

इन्द्रियों के ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वही वस्तु बुद्धि के ज्ञान से उसी काल में वैसी नहीं प्रतीत होती। इन्द्रियाँ वस्तु में सत्यता एवं सुन्दरता का भास कराती हैं, पर बुद्धि का ज्ञान उन वस्तुओं में सतत परिवर्तन का दर्शन कराता है। जब प्रत्येक वस्तु

निरन्तर बदल रही है, तब उसके अस्तित्व को स्वीकार करना के
वस्तुओं के राग को ही जन्म देना है। राग से भोग की रुचि उ
होती है। भोग की रुचि से इन्द्रियाँ और उनके विषयों में सम्बन्ध
स्थापना होती है। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं,
मन इन्द्रियों के अधीन हो जाता है। जब मन इन्द्रियों के अधीन
जाता है, तब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, जिसके होते
विषयों में सत्यता तथा सुन्दरता का भास होने लगता है। विषयों
सत्यता दृश्य के अस्तित्व को सिद्ध करने में समर्थ होती है। दृ
का अस्तित्व स्वीकार करते ही त्रिपुटी बन जाती है, अर्थात् सम
दृश्य, उसकी प्रतीति कराने वाली इन्द्रियाँ–मन–बुद्धि आदि
उनका द्रष्टा। जिस द्रष्टा ने बुद्धि आदि के द्वारा समस्त दृश्य
जाना है, वह सर्वदा दृश्य से अतीत है। दृश्य की स्वतन्त्र स
स्वीकार न करने पर राग का अन्त हो जाता है। उसका अन्त हे
ही भोग की रुचि मिट जाती है और उसके मिटते ही प्रत्येक प्रवृ
के अन्त में इन्द्रियाँ स्वतः विषयों से विमुख होकर मन में विलीन
जाती हैं तथा मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता
जिसके होते ही बुद्धि सम होकर त्रिपुटी का अभाव हो जाता
जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि चित्त की स्थिरता भंग क्यों हो
है ? प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चि
को स्वभाव से ही स्थिर रहना चाहिए, क्योंकि आवश्यक संकल्प
पूर्ति के पश्चात् अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति हो जानी चाहि
आवश्यक संकल्प की पूर्ति और अनावश्यक संकल्प की निवृत्ति
चित्त में स्वतः स्थिरता आ जायगी। पर ऐसा क्यों नहीं हो पाता
उसका एकमात्र कारण है कि जिन वस्तुओं का वियोग हो गया
उनका भी अस्तित्व चित्त में ज्यों का त्यों अंकित है और जो वस्
प्रतीत हो रही हैं, यद्यपि उनमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, पर
प्राणी परिवर्तन पर दृष्टि न रखकर उनकी सत्यता को स्वीकार क
लेता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उन वस्तुओं से सम्ब
की स्थापना हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि जिन वस्तुओं

वियोग हो चुका है, उनकी स्मृति और जिन वस्तुओं में परिवर्तन हो रहा है, उनका सम्बन्ध अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की स्मृति और प्राप्त वस्तुओं की ममता चित्त को स्थिर नहीं होने देती। यदि अप्राप्त वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय और प्राप्त वस्तुओं से हम निर्मम हो जायँ, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त स्थिर हो सकता है।

वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके सदुपयोग का जीवन में भले ही कोई स्थान हो, पर उनकी ममता का जीवन में कोई स्थान नहीं है और न वस्तुओं का महत्त्व अपने से अधिक स्वीकार करना है। जब साधक वस्तुओं की ममता से रहित हो जाता है, तब उसमें उदारता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही वस्तुओं का सद्व्यय अपने आप होने लगता है और वस्तुओं से प्राणियों का महत्त्व अधिक हो जाता है, जिसके होते ही साधक स्वयं जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर हो जाता है।

जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है और न कोई अभाव व विषमता है। विषमता का अन्त होते ही खिन्नता सदा के लिए विदा हो जाती है, अथवा यों कहो कि अखण्ड प्रसन्नता आ जाती है। इतना ही नहीं, वैरभाव तथा भय का भी अन्त हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही वस्तुओं का इतना महत्त्व बढ़ गया है कि साधक अपने अस्तित्व को ही भूल गया है। जो अभावरूप है, उसका भाव स्वीकार कर लिया है और जिसमें सतत परिवर्तन है, उसकी स्थिति को ही सत्य मान लिया है। यदि साधक विवेकपूर्वक जो भावरूप नहीं है, उसका अभाव स्वीकार कर ले, जिसकी स्थिति नहीं है, उससे विमुख हो जाय, तो वर्तमान में ही चित्त शुद्ध होते ही सभी समस्यायें स्वतः हल हो जायेंगी। ध्यानी का ध्यान अखण्ड हो जाएगा, योगी योग से अभिन्न हो जाएगा तथा जिज्ञासु को तत्त्व–साक्षात्कार एवं प्रेमी को परम प्रेम की उपलब्धि होगी, और

फिर सब प्रकार के भय का अन्त हो जाएगा। फिर किसी दोष की उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता सदा के लिए निवास करेगी। पर यह तभी सम्भव होगा, जब कि साधक अपनी अनुभूति का आदर कर वस्तुओं के सम्बन्ध तथा स्मृति का अन्त करने में समर्थ हो जाय। यही चित्त–शुद्धि का सुगम उपाय है।

१५–५–५६

१४

कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त स्वभाव से गतिशील है, चंचल नहीं। परन्तु उसमें जो चंचलता भासती है, उसका कारण उसमें इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव अंकित होना है। यदि उस प्रभाव को विवेकपूर्वक मिटा दिया जाय तो चित्त स्वभाव से ही अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो शान्ति पा जाता है। चित्त सदैव शान्ति तथा रस की खोज में लगा रहता है। इसी से अधिक काल तक किसी भी परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था आदि में नहीं ठहरता। प्राणी उसके इस स्वभाव को साधारणतः चंचलता मान लेता है। वास्तव में तो वह अपने रसरूप प्रेमास्पद की खोज में लगा है।

कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व–भाव से की हुई प्रवृत्ति का प्रभाव चित्त में अंकित होता है। करने और भोगने की रुचि इन्द्रियों के ज्ञान के सद्‌भाव होने से उत्पन्न होती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति का महत्त्व विद्यमान राग की निवृत्ति में है, परन्तु प्राणी असावधानी से विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, अपितु नवीन राग उत्पन्न कर लेता है, जिससे बेचारा चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है। वह तो अनन्त की विभूति है। जब उसकी गतिशीलता उद्देश्य की ओर हो जाती है, तब वह योग

को योग से, जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से ओर प्रेमी को प्रेमास्पद से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से चित्त बड़े ही महत्त्व की वस्तु है।

चित्त में जो राग–द्वेष अंकित है, वह बीती हुई घटनाओं का प्रभाव है और कुछ नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। यदि प्राणी उस अर्थ को अपनाए और घटनाओं को भूल जाय, अर्थात् उनकी सत्यता को स्वीकार न करे, तो घटनाओं से प्राप्त प्रकाश साधन बन जाता है। परन्तु असावधानी के कारण प्राणी घटनाओं के अर्थ को भूल जाता है और घटनाओं की स्मृति को अंकित कर लेता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। घटनाओं की स्मृतिमात्र को वस्तुस्थिति मान लेना भूल है। वह तो भोगे हुए सुख–दुःख का प्रभाव है, सुख–दुःख नहीं।

यदि प्राणी आये हुए सुख–दुःख का सदुपयोग करे और उसमें जीवन–बुद्धि की स्थापना न होने दे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख–दुःख के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति और विनाश युगपद् हैं, अर्थात् न तो उत्पत्ति में ही स्थिरता है और न विनाश में ही सत्यता है। इस दृष्टि से सुख की उत्पत्ति में ही सुख का विनाश और दुःख की उत्पत्ति-काल में ही दुःख का विनाश आरम्भ हो जाता है। जिस सुख–दुःख की स्थिति ही नहीं है, उसके प्रभाव को चित्त में अंकित रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब प्राणी चित्त में अंकित स्मृति क़ो घटना के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब वह चित्त में उत्पन्न हुए संकल्पों को बलपूर्वक दबाता है और चित्त की निन्दा करने लगता है, अथवा राग–जनित संकल्पों का सुखद स्वप्न देखने लगता है अर्थात् प्रतिकूल मनोराज्यों से भयभीत होता है और रुचिकर मनोराज्य का सुख भोगता है। भोग चाहे प्रवृत्ति के आधार पर हो, अथवा चित्त में अंकित स्मृति के आधार पर, उन दोनों से राग–द्वेष की उत्पत्ति समान ही होती है। परन्तु प्रवृत्ति के भोग में और स्मृति के भोग में एक बड़ा अन्तर यह रहता है कि प्रवृत्ति के भोग का परिणाम स्पष्ट

प्रतीत होने लगता है और स्मृति के द्वारा भोग का परिणाम स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टि से विषय-प्रवृत्ति की अपेक्षा विषय-चिन्तन कहीं अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक को चित्त में अंकित स्मृति को मिटाने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि चित्त को बलपूर्वक न दबाया जाय, अपितु विवेकपूर्वक उसमें अंकित स्मृति को मिटाने का प्रयास किया जाय। स्मृति वस्तुस्थिति नहीं है, अपितु स्मृति मात्र है। यह जान लेने पर स्मृति स्वतः मिट जायगी। अब हमें चित्त में अंकित स्मृति के वास्तविक स्वरूप के विषय में विचार करना है। यह बात किसी भी विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती कि जो वस्तु जिस काल में जैसी देखी-सुनी थी, वह वास्तव में वैसी ही है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। परन्तु स्मृति-काल में उसकी सत्यता भासती है। यदि परिवर्तन की अनुभूति के आधार पर उसकी सत्यता अस्वीकार कर दी जाय, तो चित्त में से उसका अस्तित्व निकल जाएगा, जिसके निकलते ही चित्त में स्वभाव से ही स्थिरता आ जायगी। स्थिरता के आते ही आवश्यक सामर्थ्य आ जाएगी, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है।

चित्त में जिन घटनाओं की स्मृति अंकित हो गई है, यदि उन घटनाओं में परिवर्तन-बुद्धि होती, अथवा आज उन घटनाओं का अभाव है, यह बोध होता, अथवा घटनाओं में सद्‌बुद्धि न होती, तो उनकी स्मृति ही चित्त में अंकित न होती और न चित्त अशुद्ध होता। परन्तु परिवर्तनशील, अभावरूप घटनाओं को प्राणी सत्य मान लेता है, जो वास्तव में केवल प्रतीति मात्र है। इस कारण चित्त में उनकी स्मृति अंकित हो जाती है। जितनी सत्यता जाग्रत अवस्था की घटनाओं में प्रतीत होती है और जितना उनका राग-द्वेष अंकित होता है, उतनी सत्यता स्वप्न में होने वाली घटनाओं के प्रति दृढ़ नहीं होती। उसका परिणाम यह होता है कि स्वप्न में होने वाले सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि का प्रभाव चित्त में अधिक काल तक अंकित नहीं रहता, क्योंकि स्वप्न की घटना को जाग्रत में मिथ्या मान लेता है और स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न की सृष्टि को

अपने से भिन्न नहीं मानता। मिथ्या-बुद्धि तथा अभिन्नता का भाव होने से स्वप्न की घटना से चित्त में राग-द्वेष अंकित नहीं होता, अपितु अंकित राग-द्वेष की निवृत्ति ही होती है, अथवा यों कहो कि चित्त की दशा का बोध हो जाता है। यह नियम है कि जिसकी वास्तविकता का बोध हो जाता है, उससे या तो एकता हो जाती है, अथवा असंगता। उससे सम्बन्ध नहीं रहता। एकता से भी चित्त शुद्ध होता है और असंगता से भी। अर्थात् एकता और असंगता से चित्त शुद्ध ही होता है, अशुद्ध नहीं। जिस प्रकार स्वप्न में होने वाली घटनाओं का प्रभाव घटनाओं में मिथ्या—बुद्धि होने से चित्त में अंकित नहीं होता, प्रत्युत कालान्तर में उन घटनाओं की स्वतः विस्मृति हो जाती है, उसी प्रकार यदि जाग्रत में होने वाली घटनाओं के प्रति अभाव—बुद्धि हो जाय, तो उनकी भी विस्मृति हो सकती है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत दोनों में होने वाली घटनाओं का कालान्तर में अभाव ही सिद्ध होता है। स्वप्न की घटना स्वप्न—काल में तो जाग्रत के ही समान सत्य है और जाग्रत में भूतकाल की घटनाएँ वर्तमान में स्वप्न के समान ही मिथ्या हैं। इस दृष्टि से स्वप्न और जाग्रत की घटनाएँ समान ही अर्थ रखती हैं। परन्तु प्राणी जाग्रत घटना को सत्य मानकर उनके राग—द्वेष में आबद्ध हो, चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

घटनाओं के अर्थ पर दृष्टि रखने से तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना प्राणी के लिए हितकर सिद्ध हो सकती है। परन्तु घटनाओं में सद्बुद्धि रखने से तो अहित ही होता है। यदि गम्भीरतापूर्वक घटनाओं के अर्थ पर विचार किया जाय, तो होने वाली घटनाएँ त्याग तथा प्रेम का ही पाठ पढ़ाती हैं। त्याग तथा प्रेम को अपना लेने पर राग—द्वेष स्वतः मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना चित्त—शुद्धि का साधनमात्र है और कुछ नहीं। अतः घटनाओं के अस्तित्व को अभाव रूप जानकर उनके अर्थ को अपना लेने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। ऐसा करने से चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाएगा। जो कुछ हो रहा है उसकी स्मृति चित्त पर अंकित नहीं होती। जो कर रहे हैं उसी की स्मृति चित्त पर अंकित होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक

वस्तु मिट रही है, पर उसका प्रभाव चित्त पर नहीं होता। यदि उसका प्रभाव हो जाय, तो बड़ी सुगमता से चित्त शुद्ध हो जाय। परन्तु जिन वस्तुओं का उपभोग हम कर रहे हैं, उनका प्रभाव चित्त पर अंकित होता है, जो प्राणी के चित्त में वस्तुओं की स्मृति अंकित कर देता है, जिससे वास्तविकता की विस्मृति हो जाती है। यदि किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की स्मृति न हो, तो अपने आप उसकी स्मृति जाग्रत हो जाय, जो वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत है। वस्तुओं की स्मृति ने ही अनन्त की विस्मृति उत्पन्न कर दी है, जिससे प्राणी सब प्रकार से दीन–हीन हो गया है।

भोग की रुचि से ही कर्त्तृत्व के अभिमान का जन्म होता है और कर्त्तृत्व के अभिमान से ही भोग में प्रवृत्ति होती है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण ही होनेवाली प्रवृत्तियों का प्रभाव चित्त पर अंकित होता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तव में जो कुछ हो रहा है वह समष्टि–शक्तियों के द्वारा ही होता है, परन्तु समष्टि–शक्तियों में कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं है। जिस प्रकार सूर्य से ही सभी नेत्र देखते हैं और सूर्य से ही रूप बनता है, परन्तु सूर्य किसी भी रूप का भोग नहीं करता और न नेत्र से देखने का अभिमान ही करता है। परन्तु प्राणी सूर्य के द्वारा प्राप्त नेत्र को अपना मानता है और सूर्य के ही उत्पन्न किए हुए रूप का नेत्र के द्वारा ही भोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह स्वयं अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानकर सुख–दुःख में आबद्ध हो जाता है। यदि प्राणी समष्टि–शक्तियों से मिली हुई वस्तुओं को अपना न माने और उन्हें सर्व–हितकारी कार्यों में लगा दे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग–द्वेष रहित हो सकता है। ज्यों–ज्यों राग त्याग में और द्वेष प्रेम में बदलता जाता है, त्यों–त्यों चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है।

प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु किसी भी प्राणी की व्यक्तिगत नहीं हैं, सभी को समष्टि–शक्तियों से प्राप्त हैं, अथवा यों कहो कि उस अनन्त की देन है। मिली हुई वस्तुओं को अपना मान लेना और उनके अभिमान में आबद्ध हो जाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ

नहीं है, यदि प्राणी मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग, जिससे मिली हैं, उसी के नाते कर डाले, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अभिमान–रहित हो सकता है। निरभिमानता आते ही कर्तृत्व स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कर्म–सामग्री भी अपनी नहीं है और कर्म का फल भी अपने अधीन नहीं है। केवल प्राप्त सामग्री का उपयोग करने मात्र में ही प्राणी का अधिकार है। जिसने कर्म करने की सामर्थ्य दी है, उसने विवेक के स्वरूप में विधान भी दिया है। अतः विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए और जो कुछ हो, उसी में सन्तुष्ट होना चाहिए। ऐसा करने से सभी दोष स्वतः मिट जाएँगे और चित्त शुद्ध हो जाएगा।

इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ किया है, उसका प्रभाव तभी तक चित्त पर अंकित रहता है, जब तक प्राणी धैर्यपूर्वक, भलीभाँति, बुद्धि के द्वारा उस प्रवृत्ति की वास्तविकता को जान नहीं लेता। प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव से ही मिट जाती है, परन्तु उसका प्रभाव चित्त पर रह जाता है। प्रवृत्ति के अभाव का ज्ञान उस प्रभाव को, जो चित्त पर अंकित है, नष्ट कर देता है और तब चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः चित्त पर प्रभाव बुद्धि के ज्ञान का हो, प्रवृत्ति–जनित सुख–दुःख का नहीं। इन्द्रियों के ज्ञान का सदुपयोग तो वर्तमान कार्य करने मात्र में ही है।

जब प्राणी निस्सन्देहतापूर्वक अपने लक्ष्य का निर्णय कर लेता है और पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, उसी लक्ष्य के नाते प्रत्येक कार्य सावधानी पूर्वक करने लगता है, तब प्रत्येक कार्य साधन हो जाता है और उसके अन्त में स्वतः अपने लक्ष्य के लिए उत्कट लालसा तथा जिज्ञासा जाग्रत होती है। इस दृष्टि से कार्यों में भिन्नता होने पर भी उद्देश्य की एकता सुरक्षित रहती है, जिससे प्रत्येक कार्य या तो सत्य की खोज में, अथवा प्रिय की लालसा जाग्रत करने में सहयोगी हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होता है, जब साधक की दृष्टि सतत लक्ष्य पर रहे और कार्यों में ऊँची–नीची,

छोटी–बड़ी, भली–बुरी बुद्धि न रहे। सभी कार्य एक ही उद्देश्य की पूर्ति में साधन हों। पवित्र उद्देश्य का निर्णय हो जाने पर दूषित कार्यों का तो जन्म ही नहीं होता। जैसे, किसी सती–साध्वी महिला का प्रत्येक कार्य पति–प्रेम में ही विलीन होता है, वैसे ही साधक का प्रत्येक कार्य साध्य की प्रीति में ही विलीन होता है।

प्राणी का उद्देश्य वही हो सकता है, जो सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति से अतीत हो, क्योंकि किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व तो है ही नहीं। उद्देश्य वही हो सकता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो। परिस्थितियाँ तो किसी राग का परिणाम हैं और उनके सदुपयोग में ही राग–निवृत्ति की मुख्यता है। परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि प्रमाद है, उद्देश्य नहीं। परन्तु प्राणी से भूल यह होती है कि या तो वह प्राप्त कार्य को भोग–बुद्धि से करता है, अथवा उपेक्षा–भाव से। भोग–बुद्धि से किए हुए कार्य से तो नवीन राग की उत्पत्ति होती है और उपेक्षा–भाव से कार्य करने पर कर्त्ता में जो करने का राग विद्यमान था, उसकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि कार्य में अधूरापन होने से उसकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता, जिससे विद्यमान राग नष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति यह सोचता है कि बड़े–बड़े कार्य सावधानी पूर्वक करना चाहिए और छोटे–छोटे कार्यों में विशेष ध्यान नहीं देना है, उसका कोई भी कार्य पूरा नहीं होता। अतः साधक को प्राप्त कार्य न तो भोग–बुद्धि से करना चाहिए, न उपेक्षा–भाव से और न असावधानी से। प्रत्युत् अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए, जिससे प्रत्येक कार्य सत्य की जिज्ञासा तथा प्रेमास्पद की लालसा में विलीन हो जाय और करने के राग की भी निवृत्ति हो जाय। राग की निवृत्ति होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कार्य किया जाता है, उसका राग चित्त पर अंकित नहीं होता। उसी कार्य का राग चित्त पर अंकित होता है, जो सुख की आशा से प्रेरित होकर किया जाता है। उसी से चित्त अशुद्ध होता है। प्रेमास्पद के नाते प्रत्येक कार्य चित्त–शुद्धि

में समर्थ है। इस दृष्टि से चित्त में से विद्यमान स्मृति को नाश करना और नवीन स्मृति को अंकित न होने देना ही चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।

१६–५–५६

१५

निस्संकल्पता की आवश्यकता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है और सार्थक चिन्तन से चित्त शुद्ध हो जाता है। अब विचार यह करना है कि व्यर्थ चिन्तन और सार्थक चिन्तन में भेद क्या है ? जिन वस्तुओं की प्राप्ति कर्म–सापेक्ष है, उनका चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है और जिसकी प्राप्ति जिज्ञासा अथवा लालसा–साध्य है, उसका चिन्तन सार्थक चिन्तन है। कर्म का सम्पादन प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओं से होता है और उसका परिणाम भी किसी–न–किसी परिस्थिति के रूप में ही होता है। यह नियम है कि सभी परिस्थितियाँ उत्पत्ति–विनाश–युक्त हैं। इस दृष्टि से कर्म का फल नित्य नहीं है। प्रत्येक कर्म के मूल में संकल्प–पूर्ति का महत्त्व है। संकल्प–पूर्ति का सुख किसी–न–किसी वस्तु व्यक्ति, देश, काल आदि में ही आबद्ध करता है। इस दृष्टि से कर्म के द्वारा वस्तु, व्यक्ति, आदि की आसक्ति ही मिलती है, जो प्राणी को पराधीन बना देती है और अनेक प्रकार के अभाव ही प्रदान करती है। अतः संकल्प–पूर्ति का सुख अहितकर ही सिद्ध होता है।

संकल्प–पूर्ति से जो परिस्थिति बनती है, वह स्वभाव से ही अपूर्ण तथा परिवर्तनशील है। अतः संकल्प–पूर्ति में जो सुख का भास है, वह परिस्थिति में नहीं है, अपितु संकल्प–पूर्ति–मात्र में ही निहित है। अथवा यों कहो कि संकल्प–उत्पत्ति में जो दुःख की

अनुभूति है, वह संकल्प–पूर्ति से मिट जाती है और जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता, तब तक दुःख का भास नहीं होता, अर्थात् संकल्प–पूर्ति मात्र से संकल्प–उत्पत्ति–जन्य दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति का महत्त्व संकल्प–उत्पत्ति के दुःख में है, संकल्प–पूर्ति में नहीं। यदि साधक को संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो जाय, तो संकल्प–उत्पत्ति का दुःख और पूर्ति का सुख कुछ अर्थ नहीं रखता, अर्थात् सुख–दुःख दोनों का ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

अब विचार यह करना है कि संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है, उसका अनुभव कैसे हो। प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में किसी–न–किसी अनुत्पन्न तत्त्व का होना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति किसी से होगी। जिससे उत्पत्ति होगी, वह स्वयं उत्पत्ति–रहित होगा। यह नियम है कि जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका विनाश भी नहीं होता। अतः प्रत्येक उत्पत्ति का मूल आधार अविनाशी है। जिसका नाश नहीं होता उससे देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है, उसको अपने ही में पा सकते हैं, अथवा उसकी खोज अपने ही में हो सकती है। इस दृष्टि से संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व का जीवन अपने ही में निहित है। जो अपने ही में है, उससे किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। जिससे भेद तथा दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अपेक्षित नहीं है। अतः संकल्पों के त्याग से ही संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि सर्व संकल्पों का त्याग तो सम्भव नहीं है, जैसे–भूख, प्यास इत्यादि। जिन संकल्पों का त्याग सम्भव नहीं है, उनकी पूर्ति समष्टि शक्ति के द्वारा स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि कर्त्तृत्व के अभिमान के बिना जो संकल्प पूरे होते हैं, उनमें भोग–बुद्धि की स्थापना नहीं होती। जिन संकल्पों में भोग-बुद्धि नहीं होती, उन संकल्पों की पूर्ति का सुख चित्त में अंकित नहीं

होता और जिन संकल्पों की पूर्ति का सुख अंकित नहीं होता, वे नवीन संकल्प की उत्पत्ति में हेतु नहीं होते। अतः जो संकल्प मिटाये नहीं जा सकते, उनकी पूर्ति भी संकल्प–निवृत्ति का ही साधन है। संकल्पों के त्याग से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न नहीं होते और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख दूर करता है, उपजता नहीं, उसी प्रकार संकल्पों के त्याग से प्राकृतिक नियम के अनुसार कुछ संकल्प पूरे भी होते हैं, तो उनसे नवीन संकल्प उत्पन्न नहीं होते, अर्थात् निस्संकल्पता स्वभाव से ही आ जाती है।

निस्संकल्पता आते ही सार्थक चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है। कारण, कि निस्संकल्पता समस्त वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करती है। वह ज्यों–ज्यों सबल होती जाती है, त्यों–त्यों कामनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिस काल में सभी कामनाएँ मिट जाती हैं, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में और जड़ता चिन्मयता में बदल जाती है, जो वास्तविक जीवन है। देह आदि वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामना–पूर्ति का प्रलोभन वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देता है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होने पर जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो काम का अन्त कर निस्संकल्पता प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार देहाभिमान रखते हुए भोग की रुचि स्वाभाविक है, उसी प्रकार देहाभिमान गल जाने पर प्रीति की लालसा स्वाभाविक है। प्रीति ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि जिसकी आवश्यकता मिटाई नहीं जा सकती। प्रीति स्वभाव से सभी को अत्यन्त प्रिय है। कारण, कि प्रीति रसरूप है। प्रीति का रस इतना मधुर तथा विलक्षण है कि उससे कभी किसी की तृप्ति नहीं होती, जितना भी हो, कम ही मालूम होता है। इसी कारण वह नित-नव है। प्रीति का उदय कामना–निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति में है। प्रीति की लालसा यद्यपि प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु उसका उदय तभी होता है, जब वह सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो जाय और प्रीति के रस का

पान वही कर सकता है, जो सब प्रकार से पूर्ण हो। जो कुछ भी चाहता है, वह प्रीति का रसपान नहीं कर सकता। जिसे किसी भी वस्तु, अवस्था आदि की आवश्यकता है, उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रीति उस अनन्त की वस्तु है, जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह नियम है कि जिसको जान नहीं पाते, उस पर ही विश्वास होता है। अधूरी जानकारी में सन्देह के कारण जिज्ञासा जाग्रत होती है और जिसके सम्बन्ध में पूरा जानते हैं, उसके स्वरूप का बोध होता है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, उस पर विश्वास करना पड़ता है। अतः प्रीति जिसकी भोग्य वस्तु है, उस पर विश्वास करना अनिवार्य है। उसकी ही लालसा वास्तविक लालसा है। इस दृष्टि से जिज्ञासा तथा प्रिय–लालसा ही सार्थक चिन्तन है। जिस काल में जिज्ञासा कामनाओं को खाकर पूरी होती है, उसी काल में देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही स्वतः प्रीति का उदय होता है, जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। सार्थक चिन्तन वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश कराता है और परम प्रेम प्रदान करता है। पर सार्थक चिन्तन तभी उत्पन्न होता है, जब व्यर्थ चिन्तन का अन्त हो जाय, अथवा चित्त शुद्ध हो जाय। वस्तुओं का चिन्तन चित्त को मलिन करता है और जो वस्तुओं से अतीत है, उसका चिन्तन चित्त को निर्मल करता है। निर्मल चित्त में ही प्रेम का सूर्य उदय होता है।

संकल्प वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ता है। जिज्ञासा वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभेद करती है और प्रिय-लालसा प्रेमास्पद का प्रेम प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद में नित–नव प्रेम का ही आदान–प्रदान कराती है। अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों का त्याग होने पर शुद्ध तथा आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं। पर जिज्ञासा तथा लालसा साधक को संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होने देतीं। संकल्प–पूर्ति का महत्त्व मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से लालसा तथा जिज्ञासा का जाग्रत होना ही व्यर्थ चिन्तन मिटाने में समर्थ है, जिसके मिटते ही सार्थक चिन्तन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है,

अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

शुद्ध तथा आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से किसी का अहित नहीं होता, अपितु सभी का हित होता है। इतना ही नहीं, उनकी पूर्ति से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है, क्योंकि आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प प्राकृतिक विधान के अनुरूप ही होते हैं। प्राकृतिक विधान में प्राणीमात्र का हित निहित है। परन्तु संकल्प—पूर्ति का जो सुख है, उससे नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इसी कारण साधक को सावधानी पूर्वक संकल्प—पूर्ति के सुख से सर्वदा मुक्त रहना चाहिए, अथवा यों कहो कि संकल्प—पूर्ति का महत्त्व चित्त से निकाल देना चाहिए। संकल्प—पूर्ति का स्थान केवल विद्यमान राग की निवृत्ति और दूसरों के हित में ही है। संकल्प—पूर्ति मात्र में जीवन—बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। जिन संकल्पों को साधक विचारपूर्वक न मिटा सके, उन्हें पूरा करके मिटाना चाहिए। संकल्प—पूर्ति भी संकल्प—निवृत्ति के लिए ही हो, नवीन संकल्प की उत्पत्ति के लिए नहीं। बस, संकल्प—पूर्ति का साधक के जीवन में इतना ही मूल्य है।

यदि संकल्प—पूर्ति संकल्प—निवृत्ति का साधन नहीं हैं तो संकल्प—पूर्ति का अर्थ हो जायगा—वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध, अर्थात् भोग। भोग का परिणाम है—रोग और शोक। अतः जो प्राणी संकल्प—पूर्ति को ही महत्त्व देते हैं, वे बेचारे रोग तथा शोक में ही आबद्ध रहते हैं। संकल्प चाहे कैसा ही हो, उसकी पूर्ति में सुख तो समान ही होता है। पर संकल्प—पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसमें भेद होता है। जैसे, शुद्ध संकल्प की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है, और अशुद्ध संकल्प की पूर्ति से समाज दूषित हो जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध संकल्पों का त्याग अनिवार्य है।

संकल्प—पूर्ति का सुख, उतने ही काल तक भासता है, जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता। संकल्प—पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है उसकी उपस्थिति में ही नवीन संकल्प की उत्पत्ति से संकल्प-पूर्ति का सुख मिट जाता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति मात्र

में सुख है, उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति में कुछ नहीं। संकल्प–पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प की उत्पत्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति का परिणाम क्षणिक सुख और उसके आदि और अन्त में घोर दुःख है। इस रहस्य को जान लेने पर संकल्प–पूर्ति का कुछ महत्त्व ही नहीं रहता, जिसके मिटते ही संकल्प–निवृत्ति अर्थात् योग स्वतः प्राप्त होता है।

भोग में पराधीनता, परिश्रम आदि अनेक कठिनाइयाँ हैं। और योग श्रम–रहित, स्वाधीन, शान्त तथा सामर्थ्य से युक्त जीवन है, पर उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है, जब संकल्प–पूर्ति का महत्त्व न रहे। सर्वोत्कृष्ट भोग भी योग की समानता नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा कोई भोग है ही नहीं, जो प्राणी को पराधीनता, शक्ति–हीनता आदि अनेक विकारों में आबद्ध न कर दे।

सुख–दुःख संकल्प की पूर्ति तथा अपूर्ति में ही है, किसी परिस्थिति में नहीं। यदि किसी का संकल्प भोजन न करने का हो, तो उसको भूख लगने पर भी भोजन न करने में ही सुख प्रतीत होगा और उस समय उसे कोई आग्रहपूर्वक कितना ही सुन्दर भोजन कराए, उसे भोजन करने में दुःख ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि भोजन करने का संकल्प हो और भोजन न मिले, तो भोजन न मिलने में दुःख होगा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति में ही सुख–दुःख है, अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थिति में नहीं। संकल्प–पूर्ति का महत्त्व मिटते ही संकल्प–अपूर्ति का भय अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति में समता का ही दर्शन होता है। विषमता का अन्त संकल्प–पूर्ति का महत्त्व मिट जाने में ही निहित है। संकल्प–पूर्ति का प्रलोभन और संकल्प–अपूर्ति का भय रहते हुए न तो व्यर्थ चिन्तन का अन्त ही होगा, न सार्थक चिन्तन का उदय ही होगा और न चित्त ही निर्मल होगा। यदि संकल्प–पूर्ति के क्षणिक सुख का त्याग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान

और प्रेमी को प्रेमास्पद प्रदान करने में निस्संकल्पता ही समर्थ है। पर यह ध्यान रहे कि निस्संकल्पता की शान्ति में रमण न हो। शान्ति से अतीत जो जीवन है, उसी में स्वाधीनता है, चिन्मयता है, अमरत्व है और उसी में परम प्रेम निहित है। इस दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन का अन्त कर चित्त की शुद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

१७–५–५६

१६

वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

अपने में वस्तुओं की और वस्तुओं में अपनी स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध होता है, जिसके होते ही नित्य–सम्बन्ध की और स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि सीमित अहम्–भाव तथा अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे प्राणी पराधीनता एवं अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा अभाव किसी भी प्राणी को स्वभाव से प्रिय नहीं है, क्योंकि स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा उसमें बीजरूप से विद्यमान हैं। ज्यों–ज्यों पराधीनता तथा अभाव की वेदना सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों स्वाधीनता एवं पूर्णता की लालसा स्वतः जाग्रत होती जाती है। स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा जाग्रत होते ही वर्तमान वस्तुस्थिति पर सन्देह होने लगता है। यह नियम है कि सन्देह की वेदना में जिज्ञासा की जागृति स्वतः होती है, जिसके होते ही वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद करने में, अथवा वस्तुओं की वास्तविकता जानने में समर्थ होता है। वस्तुओं की वास्तविकता के ज्ञान में वस्तुओं से अतीत के जीवन की आस्था निहित है। वह आस्था ज्यों–ज्यों दृढ़ होती जाती है, त्यों–त्यों उस

जीवन पर विकल्प–रहित विश्वास होता जाता है। यह नियम है कि विकल्प–रहित विश्वास जिस पर होता है, उससे सम्बन्ध अवश्य हो जाता है। जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति हो जाती है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति में किसी की विस्मृति स्वतः होती है। स्मृति उसी की होती है, जिसमें दृढ़ आस्था है और जिससे सम्बन्ध है। विस्मृति उसी की होती है, जिसकी आस्था में सन्देह हो जाय अथवा जिससे सम्बन्ध न रहे।

वस्तुओं में अपनी स्थापना करने का परिणाम यह होता है कि जिस वस्तु में हम अपनी स्थापना कर लेते हैं उस वस्तु की सत्यता भासने लगती है और अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। वस्तु के अस्तित्व को ही हम अपना अस्तित्व मान लेते हैं और जिन वस्तुओं की हम अपने में स्थापना कर लेते हैं, उनमें आसक्ति हो जाती है। वस्तुओं में अपनी स्थापना वस्तु से अभेद–भाव का और अपने में वस्तु की स्थापना उनसे भेद–भाव का सम्बन्ध स्थापित करती है। अभेद–भाव का सम्बन्ध सत्यता और भेद–भाव का सम्बन्ध प्रियता उत्पन्न करता है।

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सीमित, परिवर्तनशील, उत्पत्ति विनाश–युक्त और पर–प्रकाश्य है। यद्यपि वस्तुओं का अस्तित्व प्रतीति–मात्र है, वास्तविक नहीं। परन्तु जब उनसे सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है, तब उनमें सत्यता तथा प्रियता भासने लगती है। यहाँ तक कि प्राणी वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मान लेता है और अपने अस्तित्व को भूल जाता है। बस, यही स्वरूप की विस्मृति है। इस विस्मृति से ही सीमित अहम्–भाव भासने लगता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद के उत्पन्न होते ही कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तुओं से भेद–भाव का सम्बन्ध सीमित प्रियता, अर्थात् आसक्तियों को उत्पन्न करता है, जिनके उत्पन्न होते ही नित्य-सम्बन्ध की विस्मृति हो जाती है। नित्य सम्बन्ध की विस्मृति प्रीति को जाग्रत नहीं होने देती, प्रत्युत आसक्तियों को ही जीवित रखती है। अतः

वस्तुओं के भेद–अभेद–सम्बन्ध से ही 'अहम्' और 'मम' उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है।

'अहम्' और "मम" के आधार पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है और उनकी पूर्ति-अपूर्ति में ही सुख-दुख की प्रतीति होती है। सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध प्राणी अनन्त से विमुख हो गया है। यद्यपि अनन्त से देश–काल की दूरी नहीं है, फिर भी प्राणी उससे निराश होने लगता है और जिन वस्तुओं से केवल मानी हुई एकता है; वास्तविक नहीं, उनके लिए आशान्वित रहता है।

सत्य से निराश होना और असत्य की आशा करना प्रमाद है। सत्य की जिज्ञासा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है, अथवा यों कहो कि अनन्त की लालसा वस्तुओं की कामनाओं का अन्त कर अनन्त से अभिन्न कर देती है।

कोई भी वस्तु कामना–मात्र से ही प्राप्त नहीं हो जाती, अपितु उसके लिए विधिवत् कर्म अपेक्षित होता है। उस पर भी वस्तु प्राप्त हो ही जायगी, यह कोई निश्चित नहीं। इतना ही नहीं, यदि कोई वस्तु प्राप्त होती भी है, तो उसमें परिवर्तन और उसका वियोग अनिवार्य है। उस पर भी यदि प्राणी वस्तुओं की आशा करता है, तो यह कहाँ तक युक्ति–युक्त है ! परन्तु अनन्त की प्राप्ति तो लालसा करने मात्र में ही निहित है। जिसकी प्राप्ति लालसा करने–मात्र में ही निहित है, उससे निराश होना और जिसकी प्राप्ति में घोर श्रम है, प्राप्ति भी अप्राप्ति के ही तुल्य है, उसकी आशा में आबद्ध रहना कहाँ तक वाञ्छनीय है। अर्थात् यह अविवेक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्राणी ने वस्तुओं से सम्बन्ध कब और क्यों स्वीकार किया, इसका तो पता नहीं। पर वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद हो सकता है। इसी आधार पर मान लेना चाहिए कि वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है। यह नियम है कि प्रत्येक सम्बन्ध स्वीकृतिमात्र से सिद्ध होता है और अस्वीकृति–मात्र से उसका नाश हो जाता है, अर्थात् ऐसी कोई स्वीकृति है ही नहीं, जो अस्वीकृति मात्र से ही न मिट

जाय। कोई भी स्वीकृति, अस्वीकृति के अतिरिक्त किसी अन्य अभ्यास से नहीं मिट सकती। इस दृष्टि से अनन्त काल का सम्बन्ध क्यों न हो, वर्तमान में उसका विच्छेद हो सकता है।

वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद होते ही अहम् और मम का अन्त हो जाता है। अहम् का अन्त होते ही भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाती है और मम के मिटते ही प्राणी राग–रहित हो जाता है, जिसके होते ही योग, बोध और प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। अर्थात् अभेद–भाव का सम्बन्ध न रहने पर स्वरूप की स्मृति और भेद–भाव का सम्बन्ध मिटने पर नित्य सम्बन्ध की स्मृति स्वतः जागृत होती है। स्वरूप की स्मृति जाग्रत होते ही अमरत्व और नित्य सम्बन्ध की स्मृति जाग्रत होते ही परम प्रेम की प्राप्ति होती है।

समस्त माने हुए सम्बन्ध स्वीकृति-मात्र पर ही जीवित हैं, जो अविचार-सिद्ध हैं और माने हुए सम्बन्धों का विच्छेद अस्वीकृति–मात्र से ही सम्भव है, जो विचार सिद्ध है। यह नियम है कि जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और स्वास्थ्य प्रदान करती है, उसी प्रकार विचार अविचार को खाकर स्वतः मिट जाता है और अनन्त से अभिन्नता प्रदान करता है। देह रूपी वस्तु से तद्रूप होने पर इन्द्रिय–ज्ञान में सत्यता प्रतीत होती है, जिससे अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पर वस्तुओं के निरन्तर परिवर्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान इन्द्रिय–ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है। सन्देह की भूमि में ही जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं का अन्त होते ही विचार रूपी सूर्य उदित होता है, जो अविचार रूपी अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ है।

वस्तुओं से अभेद–भाव तथा भेद–भाव का जो सम्बन्ध है, उसकी सत्यता, प्रियता और प्रकाशन निज–स्वरूप तथा नित्य–सम्बन्ध की सत्ता से ही सिद्ध है, क्योंकि वस्तुओं का सम्बन्ध जिसने स्वीकार किया, उसी की सत्ता से वस्तुएँ सत्ता पाती हैं, और वस्तुओं को जिसने प्रकाशित किया, उसी के प्रकाश से वस्तुएँ प्रकाश पाती हैं।

पर बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि वस्तुएँ जिससे सत्ता पाती हैं, उसी को ढक देती हैं और उसी की सत्ता से अपने को प्रकट करती हैं, जिस प्रकार सूर्य की सत्ता से उत्पन्न बादल सूर्य को ही ढक लेते हैं। प्राकृतिक नियम के अनुसार बादलों को छिन्न–भिन्न करने में भी सूर्य ही समर्थ है, कोई और नहीं। उसी प्रकार जिसने वस्तुओं से भेद–अभेद का सम्बन्ध स्वीकार किया है, वही अस्वीकृतिपूर्वक सम्बन्ध–विच्छेद करने में भी समर्थ है। अतः जिन वस्तुओं की अपने में स्थापना कर ली है, उनके निकालने में और जिन वस्तुओं में अपनी स्थापना करली है, उनसे अपने को हटा लेने में भी वही समर्थ है, जिसने स्थापना की थी।

यद्यपि जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है, उसका स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र अस्तित्व ज्ञात नहीं होता, परन्तु उसका भास अवश्य होता है। अब यदि यह कहा जाय कि जिस अनन्त की सत्ता से सभी को सत्ता मिलती है, उसी ने वस्तुओं के सम्बन्ध को स्वीकार किया है, तो यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जो सब प्रकार से पूर्ण है, उसे अपने से भिन्न की आवश्यकता ही नहीं होती। हाँ, यह अवश्य है कि सभी उससे भले ही सत्ता पाते हों। और यदि यह कहा जाय कि वस्तुएँ स्वयं सम्बन्ध जोड़ती हैं, तो यह भी युक्ति–युक्त नहीं है, क्योंकि जो पर–प्रकाश्य तथा परिवर्तनशील हैं, वे सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ नहीं हैं। अतः न तो अनन्त ही को सम्बन्ध अपेक्षित है और न वस्तुएँ ही सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है। तो फिर वह कौन है कि जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है ? इस सम्बन्ध में यही कहना युक्ति–युक्त होगा कि जिसमें सत्य की जिज्ञासा है और वस्तुओं की कामना है, उसी ने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है। वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद करते ही सभी कामनाएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही सत्य की जिज्ञासा-पूर्ति हो जाती है। कामना–निवृत्ति तथा जिज्ञासा–पूर्ति के पश्चात् अनन्त और उसका योग, बोध तथा प्रेम से भिन्न और कुछ शेष ही नहीं रहता। इस दृष्टि से अनन्त के योग, बोध तथा प्रेम के अभाव में, जिसमें जिज्ञासा तथा कामनाएँ हैं, उसी ने स्वीकार किया है। उसे जिज्ञासु, भोगी, प्रेमी

आदि विशेषणों से कथन कर सकते हैं। भोग–वासनाओं का अन्त होने पर भोगी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, अपितु वही योगी के वेष में प्रतीत होता है। पर योग की पराकाष्ठा में योगी–रहित योग, ज्ञानी–रहित ज्ञान और प्रेमी–रहित प्रेम ही शेष रहता है, अथवा यों कहो कि योग, बोध तथा प्रेम उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं। वस्तुओं के सम्बन्ध ने योग को भोग में, ज्ञान को अविवेक में और प्रेम को अनेक आसक्तियों में बदल दिया है। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा किसी न किसी अंश में रहती है, और वही जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा कामनाओं को मिटाने एवं वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद कराने में समर्थ है।

जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद नहीं होता, तब तक जिसमें जिज्ञासा तथा कामना है, उसकी प्रतीति अवश्य होती है। पर कामना–निवृत्ति तथा जिज्ञासा–काल में उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। सांकेतिक भाषा में यही कह सकते हैं कि प्रेम और प्रेमास्पद से भिन्न किसी की स्वतन्त्र सत्ता का भास ही नहीं होता। प्रेमी और प्रेमास्पद में जातीय तथा स्वरूप की एकता है और परस्पर में प्रेम का ही आदान–प्रदान हैं। उनमें से कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद है, इसका निर्णय भी सम्भव नहीं है। केवल यही कह सकते हैं कि प्रेम में सत्ता उसी की है, जिसका वह प्रेम है। प्रेम ही में प्रेमास्पद का वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है जिसकी निवृत्ति, क्षति या पूर्ति सम्भव नहीं है। निवृत्ति कामनाओं की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है। प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है, पूर्ति या निवृत्ति नहीं। इस दृष्टि से प्रेम प्रेमास्पद की अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं।

जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद न होगा, तब तक संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति होती ही रहेगी, क्योंकि क्षण मात्र में कई संकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे यह तो स्पष्ट विदित हो ही जाता है कि संकल्प–निवृत्ति–काल भी हैं। यदि न होता, तो अल्प काल में कई एक संकल्प की उत्पत्ति–पूर्ति सिद्ध ही नहीं होती, क्योंकि संकल्प–उत्पत्ति–पूर्ति के मूल नें संकल्प–निवृत्ति होनी ही चाहिए।

अल्प-काल की संकल्प–निवृत्ति में ही जिज्ञासा जाग्रत होती है, जिससे साधक वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद करने में, अथवा काम का अन्त करने में समर्थ होता है। संकल्प–उत्पत्ति–पूर्ति का दुःख–सुख जब असह्य होने लगता है, तब संकल्प–उत्पत्ति–पूर्ति के जीवन में सन्देह उत्पन्न होता है। सन्देह की वेदना जिज्ञासा को पूर्ण रूप से जाग्रत करती है। जिज्ञासा की जागृति में ही काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यद्यपि काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है, पर असावधानी के कारण न जाने प्राणी ने कितने जन्म बिताए हैं और वर्तमान जीवन का भी बहुत बड़ा भाग बीत गया, पर समस्या हल नहीं हुई ! इसका एकमात्र कारण यह है कि वस्तुओं से भेद–अभेद के सम्बन्धों की स्वीकृति ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। अभेद–भाव के सम्बन्ध से सीमित अहम् की और भेद–भाव के सम्बन्ध से सीमित प्यार की उत्पत्ति हो गई है। यदि साधक निज विवेक के प्रकाश में वस्तुओं से जो भेद–अभेद सम्बन्ध है, उसका त्याग कर दे, तो सीमित अहम्–भाव तथा सीमित प्यार सदा के लिए विदा हो जायँ। अहम्–भाव के मिटते ही अनन्त से अभिन्नता और सीमित प्यार के मिटते ही असीम प्रेम स्वतः प्राप्त होगा, जो वास्तविक जीवन है। अतः वस्तुओं के सम्बन्ध को अस्वीकार कर चित्त शुद्ध कर लेना अनिवार्य है। जो समस्या दीर्घ काल से हल नहीं हुई, वह वर्तमान में बड़ी ही सुगमतापूर्वक हल हो सकती है। साधन कितना सहज और फल कितना महान् ! पर यह रहस्य वे जानते हैं, जो वर्तमान में ही चित्त शुद्ध करने के लिए आकुल तथा व्याकुल हैं।

१८–५–५६

१७

अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

जब प्राणी अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर कर लेता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक दोषों की उत्पत्ति अपने आप होने लगती है और चित्त शुद्ध हो जाने पर सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड़ना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चित्त को शुद्ध करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है। कारण, कि चित्त–शुद्धि के लिए ही मानव–जीवन मिला है। उससे निराश होना और उसे भविष्य पर छोड़ देना बड़ी भारी भूल है।

भूल किसी के भाग्य में नहीं लिखी है और न किसी दूसरे के द्वारा मिलती है। जानकारी की भूल होती है, अर्थात् जिसे जानते हैं, उसी को भूलते हैं। इस दृष्टि से भूल अपना ही बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है, उसे मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है। पर वह तब सम्भव होगा, जब साधक प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न करे, अपितु सदुपयोग करने के लिए सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि साधक को साधन करने की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है। अतः साधन से निराश होना प्राकृतिक विधान का अनादर है और कुछ नहीं।

प्राणी प्रत्येक परिस्थिति में चित्त शुद्ध कर सकता है, क्योंकि सभी परिस्थितियाँ प्राकृतिक न्यायानुसार साधन–सामग्री हैं। साधन में किसी प्रकार की पराधीनता, असमर्थता एवं असफलता नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक साधक प्रत्येक दशा में साधन करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। क्योंकि किसी भी साधक को न तो वह जानना है, जिसे वह नहीं जानता और न वह करना है, जिसे वह नहीं कर

सकता। जाना हुआ जान लेने पर, न जानने का दोष मिट जाता है, जिसके मिटते ही निस्सन्देहता आ जाती है, जिसके आते ही ज्ञान और जीवन में एकता हो जाती है। यही सफलता की कुञ्जी है। जो कर सकते हैं, उसके करते ही कर्त्ता में से करने का राग निवृत्त हो जाता है, और उससे सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, जिससे उसके प्रति सभी की सद्भावना हो जाती है और उसे स्वतः स्नेह प्राप्त होता है। स्नेह-प्राप्ति में कितना रस है; इसका वर्णन तो सम्भव नहीं है। केवल सांकेतिक भाषा में यह कह सकते हैं कि स्नेह की तुलना किसी और रस से नहीं हो सकती, अर्थात् स्नेह का रस सर्वोत्कृष्ट रस है। इतना ही नहीं, स्नेह में आदान—प्रदान स्नेह ही का है। स्नेह देने और पाने में रस—ही—रस है। स्नेह देने से घटता नहीं और पाने से तृप्ति होती नहीं, जितना दिया जाय, और जितना मिले कम ही प्रतीत होता है।

'करने' का राग निवृत्त होते ही भोग की रुचि स्वतः मिट जाती है, क्योंकि जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है। 'करने' का राग नाश होते ही कर्त्ता न रहकर, जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है। अर्थात् करने का राग निवृत्त होते ही भोग—वासनाओं का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में नित्य जीवन और प्रेम की प्राप्ति में अगाध-अनन्त रस स्वतः सिद्ध है।

जो साधक कर्त्तव्य के बदले में सुख की आशा करता है, उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता। कारण, कि कर्त्तव्य का महत्त्व दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में है। अर्थात् साधन में देने ही की बात है, कुछ भी पाने की नहीं। इस दृष्टि से साधन में सर्वदा सफलता ही है। जो किसी से कुछ भी पाने की आशा करता है, वह साधक नहीं है, अपितु भोगी है। यह नियम है कि जो भोगी है, उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता और चित्त—शुद्धि के बिना कभी पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चेतना में, अभाव पूर्णता में परिवर्तित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से

चित्त–शुद्धि में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

परिस्थितियों के आधार पर अपना महत्त्व आँकना, अथवा अपने को दीन–हीन मानना प्राकृतिक न्याय का अनादर है। कारण, कि किसी परिस्थिति के कारण कोई वास्तव में ऊँचा–नीचा नहीं है, प्रत्युत् जो साधक परिस्थिति का सदुपयोग करता है, वही ऊँचा है और जो दुरुपयोग करता है, वही नीचा है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति में प्राणी आदर–अनादर के योग्य हो सकता है। किसी परिस्थिति के आधार पर ही आदर तथा अनादर देना केवल जड़ता में जीवन–बुद्धि करना है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सारे विश्व से अभिन्न है, परन्तु बाह्य इन्द्रिय–ज्ञान के आधार पर, अथवा काल्पनिक भेद के आधार पर हम उस अभिन्नता में भिन्नता मान बैठे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि परस्पर में स्नेह नहीं रहा, जिससे एक दूसरे के प्रति जो करना चाहिए वह भी और जो नहीं करना चाहिए वह भी कर बैठते हैं, जिससे अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और पारस्परिक वैर–भाव हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि प्राणी मात्र एक ही आकाश से अवकाश, एक ही सूर्य से प्रकाश और एक ही वायु से साँस लेता है, अर्थात् समष्टि शक्तियाँ सभी के प्रति एकता प्रदर्शित करती हैं। परन्तु बाह्य गुण, कर्म आकृति आदि के भेद से वह अभेद में भेद मानकर मिथ्या अहम्–भाव में आबद्ध हो गया है, जिससे अनेक प्रकार की आसक्तियाँ तथा कामनाएँ उत्पन्न हो गई हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। चित्त के अशुद्ध हो जाने पर सब प्रकार के विकास स्वतः रुक जाते हैं, क्योंकि राग–द्वेष में आबद्ध प्राणी त्याग तथा प्रेम को अपना ही नहीं पाता। त्याग के बिना चिर–शान्ति और प्रेम के बिना अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि नहीं होती। शान्ति के बिना सामर्थ्य, सामर्थ्य के बिना स्वाधीनता और स्वाधीनता के बिना जीवन ही सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से चित्त के अशुद्ध होने से प्राणी का विकास नहीं होता। राग सीमित प्यार में, और द्वेष वैर–भाव में प्राणी को आबद्ध कर देता है। सीमित प्यार

सुखासक्ति की और वैरभाव, भेद की दृढ़ता उत्पन्न करता है। सुखासक्ति से पराधीनता और भेद की दृढ़ता से अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं, जो विनाश के मूल हैं। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का जीवन में स्थान ही नहीं है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए न तो चित्त में स्थिरता ही रहती है और न शान्ति तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य–परायणता निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त में स्थिरता आ जाती है और भौतिक विकास भी स्वतः हो जाता है, क्योंकि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में ही भौतिक विकास निहित है। भौतिक विकास की पराकाष्ठा में ही अध्यात्म जीवन, और उसकी पराकाष्ठा में ही परम प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस कारण चित्त की शुद्धि प्रत्येक साधक के लिए परम अनिवार्य है। चित्त शुद्ध हुए बिना निर्भयता, निर्वैरता, समता एवं मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। निर्भयता प्राप्त करने के लिए कर्त्तव्य–परायण होना अनिवार्य है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए चित्त में स्थिरता तथा शान्ति का रहना आवश्यक है।

कर्त्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होती है, जो राग–द्वेष–रहित हो। अतः अपने विकास तथा दूसरों के हित के लिए चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

कर्म तथा मान्यता आदि की भिन्नता होने पर भी यदि सभी के प्रति प्रीति की एकता हो जाय, तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है। और यदि शरीर आदि वस्तुओं से असंगता आ जाय, तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है। परन्तु किसी से एकता और किसी से भेद स्वीकार करने पर चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। वास्तविकता तो यही है कि या तो सारी सृष्टि एक है, अथवा शरीर आदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। सभी को अपना मानने से, अथवा किसी भी वस्तु को अपना न मानने से चित्त शुद्ध हो जाता है। कारण, कि सभी को अपना मानने से द्वेष नहीं रहता और किसी भी वस्तु को अपना न मानने से राग का नाश

हो जाता है। राग–द्वेष–रहित होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। राग–द्वेष–रहित प्राणी के जीवन में कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही वह निर्भय हो जाता है। इतना ही नहीं, न तो उससे किसी को भय होता है और न उसको किसी से भय होता है, अथवा यों कहो कि वह सब प्रकार के क्षोभ तथा क्रोध से रहित हो जाता है और उससे दूसरे प्राणी भी क्षुभित तथा क्रोधित नहीं होते। कारण, कि वह किसी का बुरा नहीं चाहता। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके मन में अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती और उनके बिना अशुद्ध कर्म का जन्म ही नहीं होता। अशुद्ध कर्म के बिना किसी का अहित हो ही नहीं सकता, अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व–हितकारी सद्भावना से युक्त होती है। सर्व–हितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति की साधना है, वास्तविक निवृत्ति में ही चिर–शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और अमरत्व आदि निहित हैं।

विवेकपूर्वक प्राणी देह आदि सभी वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ सकता है। वस्तुओं से सम्बन्ध टूटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है। निर्लोभता आते ही दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है। मोह-रहित होते ही निस्सन्देहता, अर्थात् तत्त्व–ज्ञान स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रिय–ज्ञान तथा बुद्धि–ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित नहीं होता। इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव मिटते ही अनेकता में एकता का दर्शन होने लगता है और बुद्धि–ज्ञान का प्रभाव मिटते ही विषमता में समता का बोध होता है, अथवा यों कहो कि वास्तविक ज्ञान से भोग योग में, अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में स्वतः बदल जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता जीवन का आवश्यक अंग है, जो निर्मोहता से ही प्राप्त हो सकती है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन में विकल्प–रहित विश्वास होने से भी प्राणी का चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि वस्तुओं से अतीत जो अनन्त है, उसका विश्वास प्राणी को वस्तुओं की दासता से मुक्त ही

नहीं कर देता, अपितु उस अनन्त से सम्बन्ध जोड़ने में भी समर्थ होता है। यह नियम है कि जिससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है, जो वस्तुओं की आसक्ति का अन्त कर देती है। ज्यों–ज्यों स्मृति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों नित–नव रस की उत्तरोत्तर वृद्धि स्वतः होती जाती है। अनन्त की स्मृति में कितना रस है, उसका वर्णन सम्भव नहीं है। परन्तु उस रस में कभी क्षति नहीं होती। यह नियम है कि रस के अभाव में ही खिन्नता और खिन्नता से ही काम की उत्पत्ति होती है, जिससे प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अनन्त की अखण्ड स्मृति उदय होते ही काम का अन्त हो जाता है और चित्त फिर सदा के लिए निर्मल हो जाता है। अनन्त की स्मृति अनन्त से भिन्न की विस्मृति कर देती है, जिसके होते ही स्मृति दिव्य, चिन्मय प्रीति होकर अनन्त को रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रीतम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रस रूप है, जिसकी माँग प्राणी को स्वाभाविक है।

किसी का बुरा न चाहने से सर्वात्म–भाव की उपलब्धि स्वतः होती है। वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विकल्परहित विश्वास तथा उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने पर अनन्त की अखण्ड स्मृति तथा परम प्रेम का उदय होता है। विवेकपूर्वक सभी वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ने पर अचाह, अप्रयत्न तथा अभिन्नता प्राप्त होती है। सर्वात्मभाव, परम प्रेम तथा अभिन्नता प्राप्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। और फिर उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती, अपितु उसकी आवश्यकता सभी को हो जाती है, क्योंकि उससे सभी को प्रेम प्राप्त होता है। अथवा यों कहो कि उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जहाँ प्रेम का ही आदान–प्रदान है, जो सभी को स्वभाव से ही अभीष्ट है। अतः प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए प्राप्त परिस्थिति का आदर पूर्वक सदुपयोग करना और किसी से सुख की आशा न रखना अनिवार्य है। यही चित्त–शुद्धि का सुगम उपाय है।

१९–५–५६

१८

निषेधात्मक साधन की आवश्यकता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर ही अपना मूल्यांकन करना चित्त को अशुद्ध करना है, क्योंकि वस्तु आदि से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका उपयोग किया जा सकता है, उससे ममता नहीं की जा सकती, उसके आधार पर अपना महत्त्व घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता और न उसमें जीवन-बुद्धि ही स्वीकार की जा सकती है। वस्तुओं आदि की ममता से लोभ-मोह आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। उनके आधार पर अपना महत्त्व घटाने-बढ़ाने से विषमता आती है और हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वस्तुओं में जीवन-बुद्धि करने से जड़ता, परिच्छिन्नता आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्यांकन करना चित्त की अशुद्धि में हेतु है। वस्तु, अवस्था आदि का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है। इसके अतिरिक्त वस्तु आदि का जीवन में कोई स्थान नहीं है।

वस्तु आदि की ममता के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी और सदुपयोग से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी। नवीन राग की उत्पत्ति न हो और विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही वस्तु आदि से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

यह नियम है कि वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही समस्त कामनाएँ स्वतः मिट जाती हैं। कामनाओं की निवृत्ति में ही वास्तविक जीवन की उपलब्धि निहित है।

वास्तविक जीवन हमारा अपना जीवन है। उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव एवं जड़ता आदि विकार नहीं हैं।

चित्त की अशुद्धि के कारण आज हम अपने को अपने जीवन से विमुख कर बैठे हैं और जो जीवन नहीं है, उसमें आसक्त हो गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ कि हम अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो गये हैं। यद्यपि वास्तविक जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा प्राणी में बीजरूप से विद्यमान है, परन्तु अस्वाभाविक इच्छाओं ने जिज्ञासा की जागृति को ढक दिया है, जिससे प्राणी वस्तु आदि की दासता में आबद्ध हो, कामना की अपूर्ति और पूर्ति के दुःख–सुख को ही जीवन मान बैठा है।

सुख–दुःख दिन–रात के समान आने–जाने वाली वस्तुएँ हैं। भला, उनसे नित्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? जिससे नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, वह हमारा जीवन कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं। चित्त की अशुद्धि के कारण जो जीवन नहीं है, हम उसकी आशा करते हैं और जो जीवन है, उससे निराश हो गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक प्रकार की आसक्तियाँ, क्षोभ, क्रोध, विस्मृति, पराधीनता आदि दोष उत्पन्न हो गये हैं। आसक्तियों ने स्वाधीन नहीं रहने दिया, क्षोभ ने शान्ति का अपहरण कर लिया, क्रोध ने प्रसन्नता का अन्त कर दिया और विस्मृति ने कर्त्तव्यपरायणता, अमरत्व एवं प्रेम से वंचित कर दिया। स्वाधीनता, शान्ति, प्रसन्नता, कर्त्तव्यपरायणता, अमरत्व और प्रेम के बिना जीवन ही क्या हो सकता है।

जिन दिव्य गुणों के प्राप्त करने में प्राणी स्वाधीन था, उनकी प्राप्ति में अपने को असमर्थ मानता है, और जिन वस्तुओं की प्राप्ति में प्राणी सर्वदा पराधीन है, उनकी प्राप्ति के लिए अपने को स्वाधीन तथा समर्थ मानता है, जो सम्भव नहीं है। यह अनहोनी बात जीवन में चित्त की अशुद्धि से आ गई है।

चित्त की अशुद्धि का कारण कोई और नहीं है। किसी और के द्वारा हमारा चित्त अशुद्ध नहीं हो सकता। हमारे प्रमाद से ही हमारा चित्त अशुद्ध हुआ है। अपने प्रमाद के मिटाने में प्राणी स्वाधीन है। जिस जीवन में हमारा सदैव अधिकार है, उससे हमें निराश नहीं

होना चाहिए। वास्तविक जीवन की आशा ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाएगी, त्यों–त्यों जो अस्वाभाविक इच्छाएँ हैं, उनका त्याग स्वतः होता जाएगा। यह नियम है कि अस्वाभाविक इच्छाओं के त्याग में ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति निहित है। पर बड़े दुःख की बात यह है कि जिसकी प्राप्ति सम्भव है, उससे निराश हो बैठे हैं। उस निराशा का अन्त कर देना ही चित्त–शुद्धि का मुख्य उपाय है। प्राणी किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, वास्तविकता की ओर अग्रसर होने के लिए समष्टि शक्तियाँ उसे सहयोग देकर सफल बनाती हैं। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए।

साधन के दो प्रधान अंग होते हैं–एक निषेधात्मक और दूसरा विध्यात्मक। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन की पूर्ति में सभी साधक स्वाधीन हैं, क्योंकि उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं होती और उसमें कभी असिद्धि भी नहीं होती। जैसे, 'हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे'–इस साधन में किसी भी साधक को कोई भी कठिनाई नहीं है और उसकी सिद्धि भी वर्तमान में ही हो सकती है, जिसके होते ही समस्त अशुद्ध संकल्प स्वतः मिट जाते हैं और उनके मिटते ही अकर्त्तव्य का अन्त हो जाता है। अकर्त्तव्य के अन्त में कर्त्तव्यपरायणता निहित है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन परिपक्व होते ही विध्यात्मक साधन स्वतः हो जाता है। साधन के किसी एक अंग की परिपक्वता से दूसरे अंग की भी सिद्धि हो जाती है और साधक, साधन तथा साध्य में भेद नहीं रहता, जो सभी साधकों को अभीष्ट है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन से चित्त में शुद्धि आती है और विध्यात्मक साधन द्वारा समस्त जीवन में उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। अतः चित्त की शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए।

निषेधात्मक साधना को बिना अपनाए बलपूर्वक विध्यात्मक साधन का वेष बनाने से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। कारण, कि विध्यात्मक साधन तो स्वतः स्वाभाविक होना चाहिए। पर वह तभी

सम्भव है, जब निषेधात्मक साधन सिद्ध हो जाय। निषेधात्मक साधन विध्यात्मक साधन की भूमि है। जिस प्रकार भूमि के बिना कोई भी पौधा न तो उग ही सकता है और न हरा—भरा ही हो सकता है, उसी प्रकार निषेधात्मक साधन के बिना सिद्ध हुए विध्यात्मक साधन जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता। जो साधन जीवन नहीं हो सकता, वह कभी भी प्रतिकूलताओं के भय तथा अनुकूलताओं के प्रलोभन से असाधन में परिणत हो सकता है। अर्थात् केवल विध्यात्मक साधन से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अपितु मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न होता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। निषेधात्मक साधन निरभिमानता द्वारा ही हो सकता है क्योंकि निषेधात्मक साधन के मूल में अपने दोष की वेदना होती है, जो अभिमान को गलाती है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन ही वास्तविक साधन है। विध्यात्मक साधन तो केवल उसका शृंगार मात्र है। विध्यात्मक साधन से तो साधक का प्रकाशन होता है, पर साधक की साधना से अभिन्नता तो निषेधात्मक साधन से ही होती है। निषेधात्मक साधना में पराधीनता नहीं है, क्योंकि वह दृढ़ संकल्प मात्र से सिद्ध हो जाती है। संकल्प—शक्ति सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है। अतः चित्त की शुद्धि में न तो असमर्थता ही है और न असफलता, अथवा यों कहो कि चित्त-शुद्धि का दृढ़ संकल्प ही चित्त को शुद्ध कर देता है।

अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर ही उसका त्याग करना चाहिए। किसी भय से भयभीत होकर अकर्त्तव्य का त्याग कुछ अर्थ नहीं रखता, प्रत्युत् मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो अनर्थ का मूल है। अकर्त्तव्य—जनित जो सुख है, वह भय से दब जाता है, मिटता नहीं। इस कारण भयपूर्वक किया हुआ अकर्त्तव्य का त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। इसी कारण कर्त्तव्य में प्रवृत्ति सहज भाव से स्वतः नहीं हो पाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अकर्त्तव्य के त्याग में ही कर्त्तव्यपालन निहित है। पर ऐसा तब होता है, जब बुराई को बुराई जानकर न किया जाय और भलाई को भलाई जानकर ही किया जाय, किसी प्रलोभन से नहीं। परन्तु यह निर्विवाद

सत्य है कि बुराई के त्याग बिना भलाई सम्भव नहीं है।

भय और प्रलोभन दोनों ही दोष हैं। किसी दोष की निवृत्ति के लिए किसी दोष का आश्रय लेना निर्दोषता नहीं है, अपितु निर्दोषता के वेष में महान् दोष है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि जो बुराई, बुराई के रूप में होती है वह सुगमता से मिट सकती है, पर जो बुराई भलाई के वेष में आती है, उसका मिटना असम्भव हो जाता है। इतना ही नहीं, उससे अनेक दोष उत्पन्न होने लगते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। अतः भय का आश्रय लेकर बुराई त्याग करने से बुराई–जनित सुखासक्ति का नाश नहीं होता। यह नियम है कि जब तक सुखासक्ति का अन्त नहीं होता, तब तक सर्वांश में निर्दोषता नहीं आती और उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता।

प्रलोभन भी एक बड़ा दोष है। उसका आश्रय लेकर किसी भी भलाई का करना भलाई भी नहीं है, अपितु भलाई के वेष में बुराई है, क्योंकि प्रलोभन की सिद्धि न होने पर भलाई स्थायी नहीं रह पाती, अर्थात् वह जीवन से अभिन्न नहीं होती। अतः जो कर्त्तव्य जीवन नहीं है, वह वास्तव में कर्त्तव्य ही नहीं है। इस कारण भलाई को भलाई जानकर ही किया जाय, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। इतना ही नहीं, वास्तविकता तो यह है कि कर्त्तव्य और जीवन एक हो जाने पर कर्तृत्व के अभिमान से रहित कर्त्तव्य–परायणता स्वतः आ जाती है और उसी से चित्त शुद्ध होता है।

यह नियम है कि अकर्त्तव्य में कर्तृत्व का अभिमान अनिवार्य है, क्योंकि वह किसी राग से प्रेरित होकर ही किया जाता है। और कर्त्तव्य उस अनन्त का विधान है। इस कारण कर्त्तव्यपालन में कर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न ही नहीं होता। जिस प्रवृत्ति में कर्तृत्व का अभिमान होता है, वह सीमित अहम्–भाव को उत्पन्न करती है और जो प्रवृत्ति कर्तृत्व के अभिमान से रहित होती है, उससे सीमित अहम्भाव स्वतः मिट जाता है। सीमित अहम्भाव अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है। भेद से कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं

की पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, कामनाएँ जिज्ञासा तथा वास्तविक लालसा को भी दबा देती हैं, जिससे प्राणी न तो सत्य की ही खोज कर पाता है और न अपने परम प्रेमास्पद के प्रेम को ही प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से भेद का अन्त करने के लिए सीमित अहम्‌भाव का अन्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब साधक भय और प्रलोभन से रहित होकर कर्त्तव्य का पालन करे।

कर्त्तव्यपरायणता राग–रहित करने में और अकर्त्तव्य का त्याग कर्त्तव्यपरायणता की सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। राग–रहित होते ही काम का नाश हो जाता है,जिसके होते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो, मन में विलीन हो जाती हैं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है, जो योग है। योग से चिरशान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य का उदय होता है। यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक को स्वाधीनता, चिन्मयता, निस्सन्देहता, अमरता एवं प्रेम की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को जान लेता है, क्योंकि वस्तु, अवस्था आदि से असंग होने पर निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और चित्त शुद्ध होने पर, जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। जो होना चाहिए, उसके होने से, विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति न होने से, नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् अकर्त्तव्य के त्याग और कर्त्तव्यपरायणता से प्राणी वीतराग हो जाता है, जिसके होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

२०–५–५६

१९

निज–ज्ञान की सामर्थ्य

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की अशुद्धि की प्रतीति जिस ज्ञान से होती है, उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है और उस उपाय को चरितार्थ करने की सामर्थ्य भी उसी ज्ञान में है। अतः जिसे चित्त की अशुद्धि की अनुभूति है, वह चित्त को शुद्ध करने में सर्वदा समर्थ है। यद्यपि वह सामर्थ्य उस अनन्त की ही देन है, परन्तु उससे इतनी अभिन्नता है कि वह अपनी ही जैसी प्रतीत होती है। यह उस दाता की विलक्षणता है कि उसने वह सामर्थ्य इतनी सुहृदयता से दी है कि जिसे वह मिली है, उसे वह अपनी ही जान पड़ती है। यह नियम है कि सभी सीमित शक्तियाँ उस अनन्त शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, अर्थात् यों कहो कि वह अनन्त शक्ति ही अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रही है, क्योंकि सारी सृष्टि एक है और उसका आधार भी एक है। वह किसी एक के प्रकाश से ही प्रकाशित है। इतना ही नहीं, यह सारी सृष्टि उस अनन्त ही के किसी एक अंश मात्र में है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में स्वरूप की एकता और केवल गुणों की ही भिन्नता है।

समस्त सृष्टि में जो शक्ति निरन्तर कार्य कर रही है, चित्त उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है, अपितु व्यक्ति अपनी बनाई हुई अशुद्धि को चित्त की अशुद्धि मान लेता है और फिर चित्त व्यक्ति के अधीन नहीं रहता। उस स्थिति में व्यक्ति चित्त की निन्दा करने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि मेरा ही दोष चित्त में प्रतिबिम्बित हो रहा है। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति का अपना दोष क्या है ? इन्द्रियों के अधूरे ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित करना और बुद्धि के ज्ञान का अनादर करना व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जब साधक बुद्धि के

ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव नष्ट कर देता है, तब चित्त में किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नहीं होता। जाने हुए को न मानना, न जानना नहीं है, अपितु भूलना है। भूल प्राकृतिक दोष नहीं हैं, प्रत्युत् व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है, उसी को मिटाने का दायित्व अपने पर है। यद्यपि उस दोष के मिटाने की सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक साधक को प्राप्त है, परन्तु साधक असावधानी के कारण उस प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं करता। उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त जैसा हित–चिन्तक अपना साथी अपने अधीन नहीं रहा। हम जिन दोषों को चित्त में अंकित करते रहते हैं, बेचारा चित्त उन दोषों को मिटाने के लिए निरन्तर स्वभाव से ही प्रयत्नशील रहता है। पर हम उसकी इस महत्ता तथा उदारता को न मानकर, उसकी निन्दा ही करते हैं और उसे बलपूर्वक दबाते रहते हैं। यद्यपि चित्त को बलपूर्वक अपने अधीन कर नहीं सके, परन्तु फिर भी यह चेत नहीं होता कि वास्तविकता क्या है ? हमारा चित्त हमारे अधीन क्यों नहीं है ? हमारे और उसके बीच द्वन्द्व क्यों उत्पन्न हो गया है ? यदि हमने किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध न जोड़ा होता, तो क्या भला बेचारे चित्त में लोभ और मोह की प्रतीति होती? कदापि नहीं। हम जिससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, चित्त पर उसी का प्रभाव अंकित हो जाता है। यदि हम अनन्त से नित्य सबन्ध स्वीकार करलें, तो चित्त स्वभाव से ही अनन्त के प्रेम से भर जाता है। इस दृष्टि से चित्त जैसी अलौकिक शक्ति कितने महत्त्व की वस्तु है ! अहम्–भाव की शुद्धि में चित्त की शुद्धि स्वतः सिद्ध है। प्राणी अपनी अशुद्धि से ही चित्त को अशुद्ध करता है। चित्त वास्तव में अशुद्ध है ही नहीं। वह तो एक विभूति मात्र है।

कामना–पूर्ति के प्रलोभन और अपूर्ति के भय ने चित्त में राग–द्वेष अंकित कर दिया है। कामनाओं की उत्पत्ति एकमात्र अविवेक–सिद्ध है। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत् प्राप्त विवेक के अनादर का नाम ही अविवेक है। प्राप्त विवेक का अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नहीं है। जानते हुए न

मानना उसी का दोष है, जो जानता है। जब साधक अपने इस दोष का अन्त कर देता है, तब सभी कामनाएँ स्वतः मिटने लगती हैं, जिनके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है और फिर चित्त में लेशमात्र भी अशुद्धि का भास नहीं रहता।

कामनाओं की उत्पत्ति जो अविवेक सिद्ध है, परिवर्तनशील, क्षणभंगुर वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ती है और जो सर्वदा, सर्वत्र, नित्य प्राप्त है, उससे विमुख करती है। यह कामना-उत्पत्ति का परिणाम है। वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही, जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसकी विस्मृति और वस्तुओं की स्मृति उत्पन्न कर दी है। वस्तुओं के चिन्तन में आबद्ध प्राणी चित्त को अशुद्ध कर लेता है। चिन्तन मात्र से किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अपितु उनकी आसक्ति ही दृढ़ होती है, क्योंकि वस्तुओं की उत्पत्ति कर्मसापेक्ष है, चिन्तन-साध्य नहीं। जो कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नहीं। कर्म-अनुष्ठान प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही सम्भव है और उसका फल प्राकृतिक विधान से निर्मित है। कर्म-अनुष्ठान में स्वाधीनता प्राणी को प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही है, उसके विपरीत नहीं। इस दृष्टि से कर्म का महत्त्व परिस्थितियों के सदुपयोग में ही है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थितियों के सदुपयोग में ही उनकी दासता से मुक्त होने का साधन निहित है। अतः प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। पर उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है।

देह आदि वस्तुओं की प्राप्ति प्रतीति मात्र है, वास्तविक प्राप्ति नहीं है; क्योंकि यदि वस्तुएँ प्राप्त होतीं, तो प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि में न जलता, न संयोग-जनित सुखासक्ति दुःख में बदलती और न नित्ययोग की लालसा ही जाग्रत होती। वस्तुओं के वियोग की वेदना में नित्ययोग की लालसा का जाग्रत होना स्वतः सिद्ध है। नित्य–योग की लालसा उसके योग में हेतु है, जो नित्य प्राप्त है जो नित्य प्राप्त है, उससे प्रीति हो जाय, और जिन वस्तुओं

का निरन्तर वियोग हो रहा है, उनका विधिवत् सदुपयोग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के परिवर्तन का बोध जिसे है, उसे ही अपने अपरिवर्तन का बोध भी है। अपरिवर्तन और परिवर्तन का नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है; प्रत्युत् अपरिवर्तनशील को परिवर्तनशील से विमुख होकर, अपने ही में अपने को सन्तुष्ट करना है, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिससे नित्य–सम्बन्ध है, जो नित्य प्राप्त है, जिसका वियोग किसी भी काल में सम्भव ही नहीं है, उससे दूरी तथा उसका अभाव भासता है, और जिससे एकता किसी भी काल में सम्भव ही नहीं है, जो केवल प्रतीति–मात्र है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन है और जिसका अदर्शन है, उसकी समीपता और प्राप्ति भासती है, अर्थात् प्राप्त में अप्राप्त–बुद्धि और अप्राप्त में प्राप्त–बुद्धि हो गई है, यही चित्त की अशुद्धि है।

जिससे स्वरूप की भिन्नता है उसके राग ने, जिससे स्वरूप की एकता है उससे द्वेष तथा भेद उत्पन्न कर दिया है, अर्थात् उससे आत्मीयता नहीं होने दी। यह नियम है कि आत्मीयता में ही परमप्रेम निहित है। अतः जिससे स्वरूप की एकता है, उसी से आत्मीयता होनी चाहिए, तभी प्राप्त में प्रेम होगा।

राग की यह महिमा है कि जिससे हो जाता है उसके दोष का दर्शन नहीं होता, और बेचारा प्राणी उसी के अधीन हो जाता है। राग ऐसा मधुर बन्धन है कि सुदृढ़ शृंखला में बँधा प्राणी भले ही छूट जाय, पर राग में आबद्ध जब तक उसका त्याग न कर दे, छूट ही नहीं सकता। सुदृढ़ शृंखला का बन्धन तो दूसरों की सहायता से भी कट सकता है, पर राग का बन्धन तो रागी को स्वयं तोड़ना पड़ता है। इस दृष्टि से राग का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। पर ऐसा तभी सम्भव होगा, जब उसका अभेद तथा प्रेम उससे हो जाय, जिससे उसने भेद तथा द्वेष स्वीकार कर लिया है। जो सर्वकाल में अपने हैं, उनसे आत्मीयता स्वाभाविक होनी चाहिए, और जो अपने से भिन्न है ही नहीं, उससे अभेदता स्वतः सिद्ध होनी

चाहिए। जो होना चाहिए, उसके न होने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे राग है, उसका त्याग स्वाभाविक है। इस दृष्टि से बेचारा रागी राग को अपने में भले ही सुरक्षित रखे और उसके कारण पराधीन बना रहे, पर जिससे उसका राग है, वह तो रह ही नहीं सकता। भला ऐसी दशा में राग से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं। राग ने ही भोग की रुचि उत्पन्न की है। भोग की रुचि ने ही बेचारे प्राणी को भोग–वासनाओं में आबद्ध किया है। भोग–वासनाओं ने ही उसे नित्य–योग से विमुख किया है और नित्य–योग की विमुखता ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

जो अपने ही हैं, अथवा जो अपने से भिन्न नहीं हैं, उनसे प्रेम हो सकता है। और जिनसे मानी हुई एकता है, अथवा जो अपने से भिन्न हैं, उनकी सेवा की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। समस्त साधन दो ही भागों में विभाजित हैं, प्रेम और सेवा। किन्तु सेवा उसकी हो, जो पर है, और प्रेम उससे, जो पर नहीं है। समस्त कर्त्तव्य सेवा के प्रतीक हैं और विवेक प्रेम की भूमि है। सेवा से विद्यमान राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। विवेक से अमरत्व की प्राप्ति तथा प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। जिनकी सेवा की जाय, उनसे ममता न हो, और जिससे प्रेम किया जाय, उससे कोई चाह न हो, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। ममता–युक्त सेवा और कामना–युक्त प्रेम तो चित्त को अशुद्ध ही करते हैं। अतः चित्त को शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि शरीर आदि सभी वस्तुओं की ममता का अन्त कर दिया जाय और प्राकृतिक नियम के अनुसार उनका सदुपयोग तथा उनकी सेवा की जाय। जिनसे नित्य योग है, जो सब प्रकार से अपने ही हैं, उनसे प्रेम हो, पर किसी प्रकार की चाह न हो। अचाह हुए बिना प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता और स्वार्थ–भाव का अन्त किए बिना सेवा सिद्ध ही नहीं होती। इस दृष्टि से चाह–रहित होने में प्रेम, और ममता तथा स्वार्थ–भाव से रहित होने में सेवा निहित है। यह नियम है कि सेवा तथा प्रेम से चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा कि जब जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि की

अनुभूति हुई है, उसी ज्ञान के द्वारा चित्त-शुद्धि की साधना का निर्माण किया जाय। चित्त की शुद्धि में ही भौतिक विकास तथा योग, बोध एवं प्रेम निहित है। भौतिक विकास में विद्यमान राग की निवृत्ति, योग में शान्ति और सामर्थ्य, बोध में निस्सन्देहता और अमरत्व एवं प्रेम में अगाध-अनन्त रस निहित है, जो सभी को अभीष्ट है। चित्त-शुद्धि के साधन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अतः चित्त-शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि जीवन की सार्थकता चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है और उसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है। अतः चित्त की शुद्धि से निराश होना केवल अपना ही प्रमाद है और कुछ नहीं।

२१—५—५६

२०

चित्त की महिमा

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

बलपूर्वक दबाया हुआ चित्त शुद्ध तथा शान्त नहीं होता, अपितु कुछ काल के लिए स्थिर जैसा भासने लगता है। कारण, कि बल के प्रयोग में शिथिलता का आना अनिवार्य है, जिसके आते ही चित्त साधक को दबाने लगता है, अर्थात् उसके अधीन नहीं रहता। चित्त की ऐसी दशा देख, साधक उसकी निन्दा करने लगता है और इस बात पर विचार नहीं करता कि चित्त मेरे अधीन क्यों नहीं होता। यह नियम है कि बल का उपयोग अखण्ड नहीं हो सकता, उसमें शिथिलता आती ही है, जिसके आते ही वस्तुस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इसी कारण दबा हुआ चित्त पुनः चंचल होने लगता है। अतः जब तक चित्त शुद्ध न होगा, तब तक शान्त न होगा।

चित्त–शुद्धि के लिए बल का सदुपयोग और विवेक का आदर

करना है, बल से चित्त को दबाना नहीं है। बल के सदुपयोग का अर्थ है, निर्बलों की सेवा। सेवा वह भाव है, जो स्वार्थ-भाव गलाने में समर्थ है। स्वार्थ-भाव गलते ही पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है और फिर चित्त स्वतः शुद्धता की ओर अग्रसर होने लगता है। पराधीन प्राणी का चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रसन्नता सदैव प्राप्त एवं अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर रहती है। इसी कारण चित्त प्राप्त की आसक्ति और अप्राप्त के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। यह नियम है कि प्राप्त वस्तुओं की आसक्ति और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन चित्त को अशुद्ध ही करता है। अतः स्वाधीनता के बिना चित्त शुद्ध हो नहीं सकता। 'पर' की सेवा में स्वाधीनता और 'पर' से सुख की आशा में पराधीनता निहित है। सेवा का अर्थ है, पराये दुःख से दुःखी होना। पर—दुःख से दुःखी होने में पराधीनता है ही नहीं। इतना ही नहीं, पराए दुःख से दुःखी होने पर चित्त में अंकित सुख—भोग की आसक्ति स्वतः मिटने लगती है, जिसके मिटते ही चित्त में शुद्धता स्वतः आती है। दूसरों से सुख की आशा करने मात्र से ही चित्त अशुद्ध होने लगता है, क्योंकि आशा पूरी हो गई, तो राग की उत्पत्ति हो जाती है और यदि पूरी नहीं हुई, तो क्रोध उत्पन्न होता है। राग और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। राग से प्राणी जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध हो जाता है, क्रोध से स्मृति नष्ट होती है। और बेचारा प्राणी बिना अग्नि के दग्ध हो जाता है, जिससे प्राप्त सामर्थ्य का भी सदुपयोग नहीं कर पाता। स्मृति-नाश होने से कर्त्तव्य, स्वरूप तथा अनन्त की अहैतुकी कृपा की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति कर्त्तव्य परायणता से वंचित कर देती है, स्वरूप की विस्मृति अमरत्व से विमुख कर मृत्यु में आबद्ध कर देती है और अहैतुकी कृपा की विस्मृति नित-नव प्रीति तथा उत्कण्ठा एवं उत्साह को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से राग तथा क्रोध चित्त को अशुद्ध ही करते हैं।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं की असंगता कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति

निहित है। जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति से चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विवेक का आदर चित्त–शुद्धि में समर्थ है। प्राप्त बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में साधक सर्वदा स्वाधीन है। अतः चित्त को शुद्ध करने में लेशमात्र भी पराधीनता नहीं है। बल के दुरुपयोग से ही चित्त में हिंसा आदि दोषों की उत्पत्ति होती है और विवेक के अनादर से मोह तथा अकर्त्तव्य आदि का जन्म होता है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर ही चित्त की अशुद्धि में हेतु हैं। बल तथा विवेक का अत्यन्त अभाव किसी भी साधक में नहीं है, अपेक्षाकृत न्यूनता तथा अधिकता भले ही हो। चित्त–शुद्धि के लिए अप्राप्त बल–विवेक अपेक्षित नहीं है, अपितु प्राप्त बल–विवेक का ही सदुपयोग करना है। बल तथा विवेक के अभाव में तो चित्त की शुद्धि–अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि बल के अभाव में अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। अकर्त्तव्य के बिना चित्त में अशुद्धि आती ही नहीं, तो फिर शुद्धि का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ! इतना ही नहीं, सीमित बल के अभाव में या तो व्यक्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, अथवा अनन्त बल से एकता हो जाती है, क्योंकि बल के अत्यन्त अभाव में अहम् की उत्पत्ति ही नहीं होती। अहम् के बिना भेद की सिद्धि नहीं होती, भेद के बिना किसी दोष की उत्पत्ति नहीं होती। और जब दोष की उत्पत्ति नहीं हुई, तो निर्दोषता स्वतः सिद्ध है। अतः बल और विवेक के अभाव में चित्त अशुद्ध नहीं होता, प्रत्युत् बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त अशुद्ध होता है।

बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त में जिन दोषों की उत्पत्ति हो गई है, उनकी निवृत्ति बिना किये कोई भी चित्त को केवल श्रम–मात्र से ही शुद्ध नहीं कर सकता। श्रम की सार्थकता वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को आलस्य–रहित हो, करने मात्र में ही है, चित्त को दबाने में नहीं। कार्यकाल में चित्त की चंचलता का प्रश्न ही नहीं आता और कर्त्तव्य–कर्म में चित्त की अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं आता। कारण, कि कार्य–काल में चित्त का कार्य से तादात्म्य रहता है और कर्त्तव्य–कर्म विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन मात्र है।

अतः चित्त की स्थिरता और शुद्धता का प्रश्न एक कार्य की पूर्ति और दूसरे कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, मध्य में ही आता है और उसी काल में चित्त कैसा है, इसका ज्ञान होता है। कार्य की शुद्धता में कर्त्ता की शुद्धता प्रतिबिम्बित होती है। कार्य कर्त्ता का ही एक चित्त है और कुछ नहीं। कर्त्ता में शुद्धि कार्य के आरम्भ से पूर्व होनी चाहिए, अर्थात् शुद्ध कर्त्ता से ही, शुद्ध कार्य की सिद्धि हो सकती है। कर्त्ता में शुद्धता, भाव की शुद्धि से आती है और भाव में शुद्धि निज–विवेक के आदर में है। इस दृष्टि से विवेक से भाव में शुद्धि, भाव की शुद्धि से कर्त्ता में शुद्धि और कर्त्ता की शुद्धि से ही कर्म की शुद्धि होती है। शुद्ध कर्म से ही बल का सदुपयोग एवं विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और राग–रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है। इस दृष्टि से श्रम का उपयोग परिस्थिति के सदुपयोग मात्र में है। पर चित्त की शान्ति तो वास्तविक विश्राम में है।

विश्राम तीन प्रकार से उपलब्ध होता है–वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करने से, विवेक–पूर्वक चाह रहित होने से और विश्वासपूर्वक अनन्त की अहैतुकी कृपा के आश्रित होने से। विश्राम–काल में चित्त स्थिर, शान्त तथा शुद्ध तो हो ही जाता है, उसके अतिरिक्त आवश्यक शक्ति का विकास भी होता है। ऐसी कोई सामर्थ्य है ही नहीं, जिसका उद्‌गम–स्थान विश्राम न हो। श्रम से सामर्थ्य का सद्‌व्यय हो सकता है और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से श्रम के अन्त में विश्राम अपेक्षित है, अथवा यों कहो कि विश्राम से ही श्रम की उत्पत्ति होती है, और विश्राम में ही श्रम विलीन होता है, क्योंकि श्रम के आदि और अन्त में विश्राम ही है। इस रहस्य को जो साधक जान लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर लेता है। चित्त की शुद्धि में सर्व–हितकारी सद्‌भावनाएँ तथा शान्ति में सामर्थ्य और स्वाधीनता निहित है और चित्त के स्वस्थ होने पर किसी भी दशा में न तो शान्ति भंग होती है और न अशुद्धि आती है। तब चित्त को जिसमें लगाना चाहिए, उसमें वह स्वभाव से ही लग जाता है, और जिससे

हटाना चाहिए, उससे हट जाता है। अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति–काल में चित्त अनासक्त और निवृत्तिकाल में चिन्मय जीवन में विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं, आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है तथा प्रत्येक दशा में शान्ति, प्रसन्नता एवं निर्भयता सुरक्षित रहती है।

अब यदि कोई यह कहे कि सामर्थ्य का सम्पादन तो श्रम में है, विश्राम में नहीं, क्योंकि श्रम से ही प्राणी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। श्रम आलस्य का अन्त करने के लिए बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक पदार्थों के संयोग से ही आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। यह बात भी ठीक ही है। पर वस्तुओं की प्राप्ति तथा उनके संग्रह में सामर्थ्य है–यह बात विचारणीय है। सामर्थ्य की कसौटी क्या है ? यदि, इस पर विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट विदित होता है कि जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगे और जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही न हो। ऐसा जिसका जीवन है, वही सामर्थ्यवान् है। इतना ही नहीं, सामर्थ्यशाली देश, समाज, वर्ग, जाति, व्यक्ति आदि वे ही माने जा सकते हैं कि जिनके द्वारा किसी का अहित न हो; और जिनकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो। जो नहीं होना चाहिए, उसके करने में ही दूसरों का अहित है। और राग–द्वेष आदि की उत्पत्ति में अपनी प्रसन्नता का अभाव है। इस दृष्टि से जिसके द्वारा किसी का अहित नहीं होता और जो राग–द्वेष रहित है, वही सामर्थ्यशाली है। वस्तुओं के संग्रह–मात्र से कोई सामर्थ्यशाली नहीं हो जाता, अपितु वस्तुओं का संग्रह तथा दुरुपयोग ही कर्त्ता को तथा समाज को असमर्थ बनाता है। जिससे असमर्थता आ जाय, उसे सामर्थ्य कहना, कहाँ तक युक्ति–युक्त है ? सामर्थ्य तो वही है, जिससे असमर्थता का विनाश हो। इस दृष्टि से वह सामर्थ्य जिससे असमर्थता मिट जाती है, विश्राम में निहित है, श्रम में नहीं। हाँ, एक बात विचारणीय है कि कहीं आलस्य को विश्राम न मान लिया जाय। आलस्य और विश्राम में बड़ा भेद है। आलसी के जीवन में व्यर्थ-चिन्तन का प्रवाह रहता है और वह वस्तु, व्यक्ति आदि का दास हो

जाता है। परन्तु जिन्हें विश्राम प्राप्त है, वे सदैव वस्तु–व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन में अविचल भाव से निवास करते हैं। उनमें व्यर्थ-चिन्तन की तो गंध भी नहीं रहती, अपितु उनका शरीर विश्व के काम आ जाता है, हृदय में प्रीति की गंगा लहराती है और वे सब प्रकार के अभिमान से रहित हो जाते हैं, जो वास्तव में चित्त–शुद्धि का परिणाम है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को भी भय देता है, अथवा दबाता है, उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में किसी को भय देने तथा दबाने का कोई स्थान नहीं है। तो फिर चित्त जैसी अलौकिक दिव्य शक्ति को भय देना, दबाना, उसकी निन्दा करना, कहाँ तक न्यायसंगत है ! बेचारा चित्त, रस तथा शान्ति का पुजारी है। वह निरन्तर उसी की खोज में लगा है। हम उसे भय तथा प्रलोभन देकर किसी न किसी अवस्था में आबद्ध करना चाहते हैं। पर वह तो सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर जाना चाहता है। इस कारण चित्त कभी भी किसी भी अवस्था में अधिक देर तक नहीं ठहरता। किसी भी अवस्था में देर तक नहीं ठहरना चित्त का दोष नहीं है, अपितु विशेषता है। यदि साधक चित्त पर से अपना शासन हटा ले और अपने में से सभी माने हुए सम्बन्धों का अन्त कर दे, तो चित्त बड़ी ही सुगमतापूर्वक शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाएगा। बेचारा चित्त देखे–सुने तथा माने हुए सम्बन्धों में ही भटकता है। साधक असावधानी के कारण स्वयं तो माने हुए सम्बन्धों का त्याग नहीं करता, जिस अनन्त से नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार नहीं करता और चित्त से यह आशा करता है कि वह कहीं न भटके, एक ही में लगा रहे। भला इसमें चित्त का क्या दोष ? यदि उस बेचारे का कोई दोष है, तो केवल इतना ही कि वह आपके माने हुए सम्बन्धों का आदर करता है। और अधिक देर तक इसलिए नहीं ठहरता कि उसे उसकी ओर जाना है, जिससे प्राणी का नित्य सम्बन्ध है। एक दृष्टि से चित्त के समान प्राणी का और कोई हित–चिन्तक तथा आज्ञाकारी नहीं है। परन्तु प्राणी असावधानी

से अपने दोष को चित्त का दोष मान बैठता है।

अब यदि कोई यह बात स्वीकार न करे, तो उसे चाहिए कि वह चित्त से सम्बन्ध तोड़ दे। चित्त ने एक बार भी किसी से नहीं कहा कि 'मैं तुम्हारा हूँ।' फिर भी जिसे उसने अपना कहा, उसके दोष को उस बेचारे ने अपना दोष मान लिया। जो चित्त की निन्दा करता है, क्या बेचारे चित्त ने भी कभी उसकी निन्दा की ? कदापि नहीं। चित्त से सम्बन्ध तोड़ने पर भी चित्त स्वभाव से ही शुद्ध हो जाता है। अतः अपने को निर्दोष बनाकर चित्त को शुद्ध कर लो, अथवा चित्त से असंग हो जाओ, तो चित्त शुद्ध हो जाएगा। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि चित्त को दबाने में नहीं है; अपितु अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर विश्राम पाने में है।

२२–५–५६

२१

चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

चित्त की चंचलता की अनुभूति उसी काल में होती है, जिस काल में चित्त की स्थिरता तथा शान्ति का प्रयास होता है। जब तक प्राणी के जीवन में चित्त की स्थिरता तथा शान्ति का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता, तब तक चित्त चंचल है, इस बात की अनुभूति भी नहीं होती। इस दृष्टि से चित्त की चंचलता की अनुभूति में चित्त की स्थिरता की साधना निहित है। अतः चित्त की चंचलता की अनुभूति जब–जब हो, तब–तब यह समझना चाहिए कि चित्त की स्थिरता की साधना आरम्भ हो गई।

अब यह विचार करना है कि चित्त की चंचलता का भास ही कब होता है ? उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति तथा पूर्ति के आशाकाल

में चित्त की चंचलता का भास नहीं होता और यदि उत्पन्न हुए संकल्प का त्याग कर दिया जाय, तब भी चंचलता का भास नहीं होता। किन्तु जब उत्पन्न हुए संकल्प की अपूर्ति की सम्भावना होती है, तब चित्त की चंचलता का भास होता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि संकल्प–अपूर्ति न हो, अथवा संकल्प की उत्पत्ति ही न हो, तो चित्त की चंचलता की किसी को भी अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि संकल्प–पूर्ति–काल में तो चित्त शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओं से तद्रूप हो जाता है और संकल्प–निवृत्ति–काल में चित्त का स्वतः निरोध हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि संकल्पों की अपूर्ति–काल में ही चित्त की चंचलता का भास है।

संकल्प–अपूर्ति का चित्र ही क्यों आता है ? अनावश्यक संकल्पों की उत्पत्ति से। अनावश्यक संकल्प उत्पन्न ही क्यों होते हैं ? संकल्प–पूर्ति में ही जीवन–बुद्धि होने से। संकल्प–पूर्ति–मात्र में ही जीवन–बुद्धि क्यों होती है ? शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर। समस्त संकल्पों का उद्‌गम–स्थान भी वस्तुओं से तादात्म्य है और संकल्प–पूर्ति में भी वस्तुओं की ही महत्ता है; अथवा यों कहो कि वस्तु ही जीवन है– यह दृढ़ता ही वास्तव में संकल्प का स्वरूप है। वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में संकंल्पों की उत्पत्ति ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का नाम संकल्प और संकल्प के स्थूल रूप का नाम वस्तु है। वस्तु और संकल्प के स्वरूप में एकता है। जैसे बीज और वृक्ष में एकता भी है और भिन्नता भी भासती है, उसी प्रकार संकल्प और वस्तुओं में एकता होने पर भी भिन्नता भासती है। इसी कारण वस्तु की अस्वीकृति में संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती और निर्विकल्पता में वस्तु की प्रतीति ही नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प और वस्तु, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, उसे वस्तु कहो, अथवा संकल्प। ऐसा कोई संकल्प नहीं जिसमें विकल्प न हो, और ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें परिवर्तन तथा उसका अदर्शन न हो। इस दृष्टिकोण से भी वस्तु और संकल्प में एकता ही है, अर्थात् वस्तुओं से तादात्म्य अथवा उनमें जीवन–बुद्धि

होने से ही संकल्प–पूर्ति का महत्त्व बढ़ जाता है, जिससे संकल्प–पूर्ति के सुख में आसक्ति हो जाती है और उससे ही संकल्प–अपूर्ति का चित्र आता है। संकल्प–अपूर्ति की वेदना ज्यों–ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता स्वतः गलती जाती है। जिस काल में पूर्ण रूप से संकल्प–अपूर्ति की वेदना जाग्रत हो जाती है, उसी काल में संकल्प–निवृत्ति की लालसा उदित होती है, जो संकल्पों का अन्त कर निर्विकल्पता प्रदान करती है, जिससे चित्त की चंचलता स्थिरता में बदल जाती है।

यद्यपि संकल्प–पूर्ति तथा अपूर्ति कोई विशेष ह्रास तथा विकास नहीं है, परन्तु संकल्प–पूर्ति की दासता में ह्रास और संकल्प–अपूर्ति की वेदना में विकास निहित है। प्राकृतिक नियमानुसार संकल्प–पूर्ति राग की वास्तविकता को जानने के लिए है और संकल्प–अपूर्ति का सदुपयोग नवीन राग की उत्पत्ति न होने में है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति दोनों ही उपयोगी हैं। पर संकल्प–पूर्ति को ही जीवन मान लेना तो एक–मात्र प्रमाद ही है, जिससे चित्त चंचल तथा अशुद्ध होता है।

संकल्प–पूर्ति की समस्या ही प्राणी का वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देती है। कारण, कि यदि संकल्प–पूर्ति की रुचि न हो, तो बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन न हों, अपितु संकल्प–पूर्ति का महत्त्व मिट जाने से इन्द्रियाँ प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जायँ और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाय, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जायगी। बुद्धि सम होते ही वस्तुओं से स्वतः सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है और फिर संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति का प्रश्न ही नहीं रहता। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति का महत्त्व न रहने में निर्विकल्पता स्वतः सिद्ध है, जो चित्त को स्थिर तथा शान्त करने में समर्थ है।

यद्यपि संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति दोनों ही में उस अनन्त का मंगलमय विधान निहित है, क्योंकि दोनों ही के सदुपयोग में प्राणी का हित है,

परन्तु प्राणी असावधानी से संकल्प–अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि संकल्प–पूर्ति का महत्त्व बढ़ जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है। संकल्प–अपूर्ति में यदि यह अनुभव किया जाय कि यह उस अनन्त के संकल्प की पूर्ति है, तो बड़ी ही सुगमता से संकल्प–अपूर्ति की वेदना उस अनन्त के प्रेम को जाग्रत कर सकती है। इस दृष्टि से संकल्प–अपूर्ति का कितना महत्त्व है ? परन्तु बेचारा प्राणी इस रहस्य को बिना ही जाने संकल्प–अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाता है। अतः जब–जब जीवन में संकल्प–अपूर्ति का चित्र सामने आए, तब–तब साधक को यही समझना चाहिए कि मेरे संकल्प की अपूर्ति में प्रेमास्पद के संकल्प की पूर्ति निहित है, जो प्रेमी के लिए रसरूप है। भौतिक दृष्टि से व्यक्ति के संकल्प की अपूर्ति में समाज के संकल्प की पूर्ति है, और आध्यात्मिक दृष्टि से संकल्प–अपूर्ति में संकल्प निवृत्ति की प्रेरणा है, अथवा यों कहो कि अभाव की अनुभूति है, जो अभाव का अभाव करने की प्रेरणा देती है। सभी दृष्टियों से संकल्प–अपूर्ति का बड़ा ही महत्त्व है। संकल्प–अपूर्ति के महत्त्व को अपना लेने पर संकल्प–पूर्ति का महत्त्व अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही संकल्प–अपूर्ति में दुःख जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। अतः संकल्प–अपूर्ति–काल में साधक को एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए। संकल्प–अपूर्ति की प्रसन्नता संकल्प–निवृत्ति प्रदान करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, संकल्प–पूर्ति यदि वस्तुओं का महत्त्व बढ़ाती है, तो संकल्प–निवृत्ति वस्तुओं से अतीत के जीवन का महत्त्व बढ़ाती है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में किसी प्रकार का वैषम्य, अभाव तथा जड़ता नहीं है। इसी कारण उस जीवन की लालसा–मात्र से चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन की लालसा तभी सबल तथा स्थायी हो सकती है, जब संकल्प–पूर्ति की अपेक्षा संकल्प–निवृत्ति में विशेष अभिरुचि हो। उसमें अभिरुचि तभी होती है, जब संकल्प–अपूर्ति की वेदना संकल्प–पूर्ति के सुख के राग को मिटा सके। इस दृष्टि से संकल्प–अपूर्ति की वेदना में ही संकल्प निवृत्ति

की साधना निहित है। परन्तु संकल्प—अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना, और संकल्प—पूर्ति की दासता को जीवित रखना कुछ अर्थ हीं रखता। संकल्प—अपूर्ति के दुःख से दुःखी होना चाहिए, पर संकल्प—पूर्ति की आशा में आबद्ध नहीं रहना चाहिए। दुःख का होना कोई दोष नहीं है, पर उसके भय से भयभीत होकर सुख का चिन्तन करना वास्तविक दोष है। दुःख जितना गहरा होता है, उतनी ही स्पष्ट जागृति आती है; क्योंकि दुःख ही एक ऐसा मूल मन्त्र है जिससे वस्तु, व्यक्ति आदि के स्वरूप का बोध होता है। वस्तु आदि का यथार्थ ज्ञान वस्तुओं से असंगता प्रदान करने में समर्थ है। वस्तुओं की असंगता में ही अचाह पद की प्राप्ति, और उसमें ही चित्त—शुद्धि निहित है।

वस्तुओं से तादात्म्य अविवेक—सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अविवेक विवेक का अभाव नहीं, अपितु विवेक का अनादर है। विवेक का अनादर कब से आरम्भ हुआ है, इसका पता सम्भव नहीं, परन्तु विवेक का आदर वर्तमान में ही हो सकता है और उसके आदर मात्र से ही अविवेक का अभाव हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है। अभाव उसी का होता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से ही सत्ता पाता है। इसी कारण किसी ने भी अविवेक को विषय नहीं किया। उसके प्रभाव से भले ही अपने को असावधान कर लिया हो, पर अविवेक को अविवेकी ने अपने से भिन्न कभी नहीं देखा। जिस प्रकार निर्धन में धन की लालसा रहती है, अथवा यों कहो कि जैसे, धन की लालसा के अतिरिक्त निर्धनता कुछ नहीं है, उसी प्रकार विवेक की लालसा के अतिरिक्त अविवेक कुछ भी नहीं है और अविवेक से भिन्न अविवेकी का कोई अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से अविवेक कब तक है ? जब तक प्राप्त विवेक का आदर नहीं, और प्राप्त विवेक का आदर कब तक नहीं ? जब तक इन्द्रिय ज्ञान में ही तादात्म्य तथा सद्बुद्धि है। इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह होते ही जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति सभी कामनाओं का अन्त कर अपनी पूर्ति में आप समर्थ हो जाती है। यह नियम है कि जिज्ञासा की पूर्ति में ही निस्सन्देहता

तथा निर्भयता निहित है। भय तथा सन्देह का अन्त होने पर चित्त स्वभाव से ही शुद्ध तथा शान्त होने लगता है, क्योंकि भय तथा सन्देह ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। यदि भय तथा सन्देह की वेदना असह्य हो जाय, अथवा यों कहो कि उसका मिटाना वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भय तथा सन्देह का अन्त हो सकता है। परन्तु जब तक प्राणी भय तथा सन्देह के रहते हुए चैन से रहता है, तब तक उसका अन्त नहीं होता। निस्सन्देह एवं अभय होने की माँग इतनी तीव्र होनी चाहिए कि उसके बदले में कोई भी प्रलोभन उस माँग में शिथिलता उत्पन्न न कर सके। प्राणी अपनी माँग की पूर्ति में भले ही असमर्थ हो, परन्तु अपूर्ति–जनित दुःख में तो सर्वदा समर्थ है। माँग की अपूर्ति का दुःख उस समय तक उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए, जब तक माँग की पूर्ति न हो जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब निस्सन्देहता एवं निर्भयता प्राप्ति से लेशमात्र भी निराशा न हो, अपितु नित–नव आशा का संचार होता रहे।

सन्देह तथा भय सदैव सुरक्षित नहीं रह सकते, क्योंकि निस्सन्देहता तथा निर्भयता में ही जीवन है। जो जीवन है, उससे निराश होना प्रमाद है और कुछ नहीं। प्रमाद अपना ही बनाया हुआ दोष है। प्रमाद को प्रमाद जान लेने पर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट जाता है, और उसके मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त की शुद्धि में ही चित्त की शान्ति तथा प्रसन्नता निहित है। शान्ति सामर्थ्य को प्राप्त कराती है और प्रसन्नता खिन्नता को खाकर काम का अन्त करती है। काम के अन्त में ही सब प्रकार के सुख–दुःख का अन्त हो जाता है, और सुख–दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि वर्तमान की ही वस्तु है और उसी में जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है।

२३–५–५६

२२

ज्ञान और जीवन की अभिन्नता

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

ज्ञान और जीवन में भेद प्रतीत होना ही चित्त की अशुद्धि है। वास्तव में तो ज्ञान में ही जीवन और जीवन में ही ज्ञान है। जीवन और ज्ञान में विभाजन सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं है, उसका भासित होना चित्त की अशुद्धि के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? क्या वह जीवन हो सकता है, जो अपने को अपने आप प्रकाशित न करे ? कदापि नहीं। जो अपने को अपने आप प्रकाशित कर रहा है, क्या वह ज्ञान–शून्य हो सकता है? कभी–भी नहीं। इस दृष्टि से ज्ञान ही जीवन और जीवन ही ज्ञान है।

वास्तविक ज्ञान में निस्सन्देहता है और अधूरे ज्ञान में सन्देह है। सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति है और जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविक ज्ञान है। इसलिये जितने प्रश्न उत्पन्न होते हैं, उन सबकी भूमि अल्प–ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं। अल्प–ज्ञान में ही सद्भाव होने से कामनाओं की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कामनाओं की उत्पत्ति जिज्ञासा को मिटा नहीं पाती, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है, जिससे सन्देह की वेदना दब जाती है और कामना–पूर्ति के सुख की दासता उत्पन्न हो जाती है। जब तक सन्देह की वेदना सबल नहीं होती, तब तक कामना–पूर्ति के सुख का प्रलोभन नष्ट नहीं होता। उसके नष्ट हुए बिना न तो जिज्ञासा की पूर्ति होती है और न परम प्रेम का उदय ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निस्सन्देहता में ही जीवन तथा प्रेम में ही रस निहित है। किसी भी प्राणी को रस–विहीन जीवन प्रिय नहीं, और जीवन–रहित रस भी अभीष्ट नहीं, अर्थात् रस और जीवन दोनों ही की आवश्यकता है। रस में जीवन है, अथवा जीवन में रस है, इसका निर्णय युक्ति–युक्त सम्भव नहीं, किन्तु यह सभी को मान्य

है कि यदि जीवन है, तो उसमें रस अवश्य हो।

जीवन उसे नहीं कह सकते, जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमें परिवर्तन हो, और रस उसे नहीं कह सकते, जिसमें क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति हो। इस दृष्टि से वस्तु आदि से तद्रूप होने में न तो जीवन की ही सिद्धि है और न रस की ही उपलब्धि सम्भव है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सतत परिवर्तनशील है और उसका अदर्शन होता है; अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति-विनाश युक्त है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम में स्थिति केवल भास-मात्र है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं, उसमें जीवन की स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती।

यद्यपि जीवन की माँग प्राणीमात्र में स्वाभाविक है, परन्तु जिसमें जीवन की माँग है, क्या वह स्वयं जीवन नहीं है ? यदि वह स्वयं जीवन है, तो माँग कैसी ? और माँग है, तो जीवन कैसा ? क्योंकि बिना अभाव की अनुभूति के माँग की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और जिसमें माँग की उत्पत्ति होगी, उसका अस्तित्व माँग की उत्पत्ति से पूर्व भी होना चाहिए। यदि अस्तित्व है, तो फिर जीवन की लालसा कैसी ? यह नियम है कि लालसा तथा जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जिसका नित्य, स्वतन्त्र, स्वतः-सिद्ध अस्तित्व है। किसी भी उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तु का नित्य, स्वतन्त्र, स्वतःसिद्ध अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः वस्तुओं के आश्रय से जीवन की उपलब्धि सम्भव नहीं है, अथवा यों कहो कि वस्तुओं में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन वस्तुओं से अतीत होना चाहिए। वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही वस्तुओं से असंगता प्रदान करने में समर्थ है।

इन्द्रियों के ज्ञान से वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता भासती है, परन्तु फिर भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती। इतना ही नहीं, बेचारी इन्द्रियाँ भी अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करतीं। इस दृष्टि से इन्द्रियों की गणना भी वस्तुओं ही में होती है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय जिस वस्तु को विषय करती है, उस वस्तु

की अपेक्षा उसमें कुछ विलक्षणता है, परन्तु पर–प्रकाश्य होने के कारण इन्द्रियों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, उसमें कितनी ही विलक्षणता क्यों न हो, वह वस्तु ही है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय की अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु भले ही हो, परन्तु जिस ज्ञान से इन्द्रियों का ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा तो इन्द्रियाँ स्थूल तथा सीमित ही हैं। इन्द्रियों का ज्ञान जिससे होता है, उसे बुद्धि का ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से प्राणी इन्द्रियों को विषय करता है, उस ज्ञान से प्रत्येक वस्तु वैसी नहीं मालूम होती जैसी इन्द्रियों के ज्ञान से प्रतीत होती है। यद्यपि वस्तु वही है जिसे इन्द्रियों ने विषय किया, परन्तु ज्ञान में भेद होने के कारण वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय वह नहीं रहा, जो इन्द्रियों को था। इन्द्रियों ने जिसे सत्य और सुन्दर बताया था, उसी को उस ज्ञान ने, जिसने इन्द्रियों को विषय किया, अनित्य तथा असुन्दर बताया। एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विपरीत निर्णय होने के कारण व्यक्ति में वास्तविकता जानने की जिज्ञासा स्वतः होती है। इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव ने व्यक्ति में कामनाओं को जन्म दिया, और उस ज्ञान ने जिज्ञासा को जाग्रत किया, जिससे कि इन्द्रियों को जाना था। दोनों प्रकार के ज्ञान का प्रभाव किसी एक पर ही है, और उसी में कामना तथा जिज्ञासा निवास करती है।

कामना–पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा को शिथिल बनाता है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करती है। जो व्यक्ति अपने को कामना–युक्त मानता था, वही अपने को जिज्ञासु मानता है। जिस ज्ञान से वस्तुएँ सत्य और सुन्दर मालूम होती थीं, वह ज्ञान उस ज्ञान की अपेक्षा अल्प है, जिससे वस्तुएँ अनित्य तथा असुन्दर मालूम होती हैं। एक काल में किसी भी व्यक्ति पर एक प्रकार के ज्ञान का ही प्रभाव रहता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है, जिसके बदलते ही कामनाएँ मिट जाती हैं और जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, अथवा यों कहो कि कामनाओं का नाश इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर देता है। विषयों से विमुख होते ही इन्द्रियों का ज्ञान उस ज्ञान में

विलीन हो जाता है, जिसने इन्द्रियों को विषय किया था।

विषयों की विमुखता में वस्तुओं की महत्ता कुछ नहीं रहती, जिसके न रहने पर वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। उस जीवन में पराधीनता नहीं है, और दीनता तथा अभिमान नहीं है, वहाँ विषमता भी नहीं है। जहाँ विषमता नहीं रहती, वहां प्रसन्नता स्वतः उदित होती है। जहाँ प्रसन्नता रहती है, वहाँ खिन्नता निवास नहीं करती और जहाँ खिन्नता निवास नहीं करती, वहाँ काम की उत्पत्ति ही नहीं होती। काम का अभाव होते ही भेद या भिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही निस्सन्देहता, निर्भयता, चिन्मयता आदि जीवन में स्वतः प्राप्त होती हैं। उसी जीवन की माँग वस्तुओं में आबद्ध प्राणी को रहती है। वस्तुओं की दासता ने ही प्राणी को उस जीवन से विमुख किया है। उस जीवन की विमुखता से जीवन की माँग उत्पन्न हुई है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। पर कब ? जब वस्तुओं से अपने को असंग कर लिया जाय। वस्तुओं से असंग होने के लिये इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटाना होगा। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधक वास्तविक जीवन का अधिकारी हो जाता है।

इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव जिस ज्ञान से मिटता है, वह ज्ञान भी अल्प है, क्योंकि राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित कर देने के बाद वह ज्ञान अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करता। जो पर–प्रकाश्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। निस्सन्देहता नित्य–ज्ञान में ही निहित है। यद्यपि नित्य ज्ञान का किसी भी काल में अभाव नहीं है, परन्तु अल्प ज्ञान को ही ज्ञान मान लेने पर नित्य–ज्ञान से भिन्नता भासने लगती है। यह नियम है कि वस्तुओं के परिवर्तन का ज्ञान जब वस्तुओं की सत्यता के ज्ञान का अपहरण कर लेता है, तब साधक की नित्य ज्ञान से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। चित्त–शुद्धि के लिये वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव अनिवार्य है।

वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता के ज्ञान का प्रभाव और वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव जिस पर होता है, उसी में जीवन तथा रस की माँग है, क्योंकि वही खिन्नता तथा मृत्यु से भयभीत है। खिन्नता और मृत्यु का भय जीवन तथा रस की आवश्यकता जाग्रत करता है। परन्तु कब ? जब खिन्नता तथा मृत्यु के भय से साधक अधीर न हो जाय, अपितु उस भय का नाश करने के लिये उत्कण्ठा एवं उत्साहपूर्वक साधन में तत्पर बना रहे।

भय का अन्त वर्तमान की वस्तु है। उसके लिये भविष्य की आशा करना, अथवा, उससे निराश होना साधक का प्रमाद है और इस प्रमाद से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि भय की अनुभूति निर्भयता की लालसा जाग्रत करने में समर्थ है; परन्तु भय की अनुभूतिमात्र से ही अधीर हो जाने पर प्राणी जड़ता में आबद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ जाती है, जिसके आते ही 'वस्तु ही जीवन है' और जीवन ही वस्तु है,' ऐसा मान बैठता है। इस मान्यता ने ही भय का अन्त नहीं होने दिया। साधक के जीवन मे इस मान्यता का कोई स्थान ही नहीं है।

वस्तु में अहम्–बुद्धि स्वीकार करने पर ही वस्तु का महत्त्व बढ़ता है और वस्तुओं की कामना उत्पन्न होती है, क्योंकि वस्तु से अतीत होने पर किसी भी वस्तु की कामना उत्पन्न नहीं होती। वस्तु में अहम्–बुद्धि जिस देव ने स्वीकार की है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व आज तक किसी को नहीं मिला। पर वस्तु में से यदि अहम्–बुद्धि का त्याग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति, अर्थात् निस्सन्देहता और प्रेम का उदय स्वतः हो जाता है। निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति में कितना रस है, कैसा दिव्य–जीवन है ! इसका वर्णन सम्भव नहीं है, क्योंकि वर्णन करने के साधन सीमित हैं, अनित्य हैं और वह जीवन अगाध है, अनन्त है।

वस्तु में अहम्–बुद्धि जिसने स्वीकार की, यदि उसे वस्तु कहें तो यह भी यथार्थ नहीं, क्योंकि वस्तु पर–प्रकाश्य है और पर–प्रकाश्य

में किसी को स्वीकार–अस्वीकार करने की स्वाधीनता सम्भव नहीं, और यदि उसे अवस्तु कहें, तो अवस्तु को वस्तु की अपेक्षा नहीं, और न अवस्तु–वस्तु का सम्बन्ध ही सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु में अहम्–बुद्धि जिसने स्वीकार की है, वह वस्तु–अवस्तु से विलक्षण है, और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वस्तु में अहम्–बुद्धि का अन्त होने से केवल नित्य, चिन्मय जीवन का बोध सिद्ध होता है। उसमें किसी प्रकार की परिच्छिन्नता का भास नहीं होता; अर्थात् वस्तुओं से जो अतीत है, वह अनन्त, नित्य–चिन्मय है। वह अपने को और अपने से भिन्न को प्रकाशित करता है। इतना ही नहीं, समस्त वस्तुएँ उसके किसी एक अंशमात्र में भासित होती हैं। अतः जो वस्तुओं से परे है, वह स्वयं वस्तुओं में अहम्–बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकता। जिसने वस्तु में अहम्–बुद्धि स्वीकार की है, उसके सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि वह वस्तु–अवस्तु से विलक्षण है। बिना किसी आश्रय के उसका भास नहीं होता और आश्रय का त्याग करते ही, वह अवस्तु में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि उसका योग तथा प्रेम हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध में युक्ति–युक्त कथन कुछ नहीं बनता। मान्यता की दृष्टि से उसे चाहे कुछ मान लिया जाय। यह मानना भी उसका ही एक रूपान्तर होगा; अर्थात् वस्तु में अहम्–बुद्धि जैसे मान ली गई और जिससे अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो गईं, वैसे ही उस विलक्षण देव का कोई भी नाम भले ही रख लिया जाय, वह मान्यता ही होगी और कुछ नहीं। उसी में इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव के आधार पर कामना उत्पन्न होती है, और जिस ज्ञान से इन्द्रियों का अल्प–ज्ञान, अर्थात् अधूरा ज्ञान सिद्ध होता है, उस ज्ञान के प्रभाव से उसी में जिज्ञासा जाग्रत होती है। वही अपने को कभी भोगी और कभी जिज्ञासु नाम से सम्बोधित करता है। भोग–वासनाओं से भिन्न भोगी के अस्तित्व को किसी ने देखा नहीं, और जिज्ञासा से भिन्न जिज्ञासु को किसी ने जाना नहीं। वासना और जिज्ञासा के समूह में ही समस्त समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब जिज्ञासा वासनाओं को खा लेती है, तब सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। जिज्ञासा और

वासना का द्वन्द्वात्मक स्वरूप ही वह देव है, जिसने वस्तुओं में अहम्–बुद्धि स्वीकार की है। वासनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति के बाद उस द्वन्द्वात्मक स्वरूप का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। निस्सन्देहता, योग और प्रेम से भिन्न की चर्चा करना किसी मान्यता को ही जन्म देना है। योग सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन तथा नित्य–ज्ञान का प्रतीक है, और प्रेम नित–नव रस का प्रतीक है। ये तीनों किसी एक में ही निहित हैं। जिसकी कोई भी परिभाषा नहीं की जा सकती, अपितु अनेक परिभाषायें जिसमें सिद्ध होती हों, और फिर भी जो सभी परिभाषाओं से विलक्षण हो, उस अनन्त की महिमा ही योग, ज्ञान तथा प्रेम है। चित्त शुद्ध हो जाने पर यह रहस्य स्वयं खुल जाता है और वस्तु में अहम्–बुद्धि का अत्यन्त अभाव होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त–शुद्धि में ही व्यक्ति का पुरुषार्थ है, जो अपने में से वस्तु–भाव का त्याग और वस्तु में से अहम्–भाव का त्याग करने पर स्वतः हो जाता है। और फिर ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता। अतः इस भेद का अन्त करने के लिये चित्त की शुद्धि ही परम पुरुषार्थ है।

२४–५–५६

(२३)

व्यक्तित्व के मोह का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है, जिसके होते ही एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो उसे किसी भी दशा में स्थिर नहीं रहने देती और न सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध–विच्छेद करने देती है। अथवा यों कहो कि द्वन्द्वात्मक स्थिति से जिस अहम्-भाव की उत्पत्ति होती है, उस अहम्–भाव में इतना मोह हो जाता है कि व्यक्ति को उसका

विनाश सहन नहीं होता। उसको सुरक्षित रखने के लिये वह कभी तो अपने को सुखी और कभी दुःखी; कभी समर्थ और कभी असमर्थ, कभी जानकार और कभी अनजान मानता रहता है। पर सर्वांश में न अपने को सुखी ही मानता है और न दुःखी, न सामर्थ्यवान् और न असमर्थ, न जानकार और न अनजान। इतना ही नहीं, न जानने की वेदना से भी अपने को बचाता है। किसी–न–किसी अंश में यह मान लेता है कि मैं जानता तो हूँ, मुझमें ज्ञान है। पर उस ज्ञान का आदर कितना है, इस पर ध्यान ही नहीं देता। उसका परिणाम यह होता है कि वह मान लेता है कि मैं जानता नहीं। अर्थात् न तो साधक न जानने की वेदना को ही तीव्र होने देता है और न जितना जानता है, उसका आदर ही करता है। उससे उसकी वस्तुस्थिति द्वन्द्वात्मक बनी रहती है। उस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अंत चित्त शुद्ध होने पर ही हो सकता है।

चित्त की शुद्धि के लिये साधक को सरलतापूर्वक अपनी वस्तुस्थिति अपने सामने स्पष्ट रखनी चाहिए। अपने से अपनी दशा को छिपाना नहीं चाहिए। वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित होगी, अथवा आनन्द की गंगा लहराएगी। व्याकुलता की अग्नि में समस्त अशुद्धि भस्मीभूत हो सकती है, और आनन्द की गंगा में भी समस्त विकार गल जाते हैं। इन दोनों में से किसी भी एक से चित्त शुद्ध हो सकता है। यद्यपि व्याकुलता में आनन्द और आनन्द में व्याकुलता ओत–प्रोत है, परन्तु एक काल में एक ही की प्रधानता प्रतीत होती है। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और अग्नि में काष्ठ स्थित है, उसी प्रकार आनन्द में व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है। अग्नि के रहते हुए भी काष्ठ में शीतलता और काष्ठ के रहते हुए अग्नि में दाहकता विद्यमान है। उसी भाँति आनन्द में व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है।

इसी आनन्द तथा व्याकुलता का सीमित एवं स्थूल रूप सुख–दुःख, सामर्थ्य–असामर्थ्य और जानना न जानना है। व्यक्ति में

व्यक्तित्व क्या है, इसको भली–भाँति जान लेने पर व्यक्तित्व नहीं रहता, क्योंकि अपने में अपनापन स्वीकार करना वास्तविकता से अपरिचित होना है। यदि अपने में अपनेपन की खोज की जाय, तो अपनापन नहीं मिलेगा। कारण, कि अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है नहीं, फिर भी अहम् और मम भासित होता है, जिससे द्वन्द्वात्मक स्थिति पोषित होती है। इस दृष्टि से खोज के अभाव में ही साधक वास्तविकता से विमुख हो जाता है। सुख, सामर्थ्य और जानने में पारस्परिक एकता है और दुःख, असमर्थता एवं न जानने में पारस्परिक एकता है। इस दृष्टि से जानना और न जानना कहो, अथवा सामर्थ्य और असमर्थता कहो, अथवा सुख और दुःख कहो, यही द्वन्द्व है। इनमें से किसी एक द्वन्द्व के मिट जाने पर सभी द्वन्द्व मिट जाते हैं। साधक को अपनी–अपनी रुचि के अनुसार चाहे सुख–दुःख के द्वन्द्व का, अथवा जानने–न जानने के द्वन्द्व का, अथवा सामर्थ्य–असमर्थता के द्वन्द्व का अन्त कर डालना चाहिए।

सुख में दुःख का दर्शन करते ही दुःख मिट जाता है। दुःख के मिटते ही आनन्द की गंगा लहराने लगती है। सामर्थ्य में असमर्थता का दर्शन करते ही निर्भरता आती है, जिसके आते ही असमर्थता मिट जाती है। जानने में न जानने का दर्शन करते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो न जानने का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता, सामर्थ्य और आनन्द में द्वन्द्व नहीं है, अपितु द्वन्द्वातीत वास्तविक जीवन है।

सुख में दुःख का दर्शन करने का उपाय यह है कि साधक को सुख के आदि और अन्त को जानना चाहिए। ऐसा कोई सुख है नहीं, जिसके आदि और अन्त में दुःख न हो। आदि और अन्त के दुःख को ही मध्य के सुख में देखना चाहिए। सुख में दुःख का दर्शन करते ही सुख की आसक्ति मिट जायगी, जिसके मिटते ही कामनाओं का अन्त हो जावेगा। कामना–रहित होते ही निस्सन्देहता, सामर्थ्य और आनन्द से अभिन्नता हो जायगी। जानने के अभाव में जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती, प्रत्युत् कुछ न कुछ जानने में ही जिज्ञासा जाग्रत

होती है। जब साधक अधूरी जानकारी में सन्देह, अर्थात् न जानना देखने लगता है, तब जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो कामनाओं को खाकर निस्सन्देहता से अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टि से जानने—न जानने का द्वन्द्व मिटने पर भी वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। सामर्थ्य के अभाव में असमर्थता की प्रतीति नहीं होती, अपितु सीमित सामर्थ्य में ही असमर्थता का दर्शन होता है। अतः सामर्थ्य में असमर्थता का दर्शन करते ही अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सर्व समर्थ की निर्भरता आ जाती है, जो अनन्त से अभिन्न कर देती है।

समस्त दोषों का मूल एकमात्र अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित रहना, अर्थात् अपने से अपने को छिपाना है। अपने से अपने को साधक क्यों छिपाता है ? मिथ्या अभिमानजनित सुख की दासता में आबद्ध होने से अपने को छिपाने का स्वभाव बन जाता है। उस स्वभाव में आबद्ध होकर साधक कभी तो अपने को समझदार, कभी बेसमझ, कभी सामर्थ्यवान, कभी असमर्थ, कभी सुखी और कभी दुःखी मानने लगता है। पर किसी भी मान्यता पर दृढ़ नहीं रहता। और जो जानता है, वह भी नहीं मानता। जो कर सकता है, उसके न करने से करने का राग निवृत्त नहीं होता। करने का राग निवृत्त हुए बिना न तो करने से छुटकारा ही मिलता है और न साधक अपने आपको समर्पित ही कर पाता है। इस कारण कभी पुरुषार्थी होने की सोचता है और कभी अपने को असमर्थ मान कर सर्व समर्थ के शरणागत होने में विश्वास करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपनी असमर्थता का परिचय ही सर्वसमर्थ की निर्भरता में हेतु है और सामर्थ्य की अनुभूति में ही पुरुषार्थ की प्रेरणा निहित है, क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग का ही नाम पुरुषार्थ है।

यद्यपि पुरुषार्थ और शरणागति का परिणाम एक है,परन्तु वह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक एकनिष्ठ हो जाय। या तो प्राप्त सामर्थ्य के अनुरूप पुरुषार्थी हो जाय, अथवा असमर्थता से परिचित होकर सर्व समर्थ के प्रति समर्पित हो जाय। समर्पण और पुरुषार्थ में

विरोध नहीं है। पुरुषार्थ से साधक सीमित बल का सदुपयोग कर उसके अभिमान से रहित हो जाता है, जिसके होते ही शरणागति स्वतः आ जाती है। और शरणागत का अनन्त बल से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे आवश्यक पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है। जब तक दीनता और अभिमान का अभाव नहीं हो जाता, तब तक पुरुषार्थ अथवा शरणागति किसी–न–किसी की आवश्यकता बनी ही रहती है। पुरुषार्थ से शरणागति और शरणागति से पुरुषार्थ स्वतः होने लगती है। अन्तर केवल इतना है कि शरणागत के पुरुषार्थ में कर्तृत्व का अभिमान नहीं रहता और पुरुषार्थी की शरणागति में दीनता नहीं रहती, प्रत्युत् अभिन्नता रहती है।

निरभिमानता और अभिन्नता का स्वरूप एक है, क्योंकि दोनों ही में भेद का नाश हो जाता है, क्योंकि भेद की उत्पत्ति अभिमान तथा भिन्नता में ही निहित है। मिली हुई सीमित योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मान लेने से अभिमान की उत्पत्ति होती है और वस्तु, अवस्था आदि के आधार पर अपने अस्तित्व को स्वीकार करने से भिन्नता उत्पन्न होती है। अभिमान तथा भिन्नता से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्त–शुद्धि के लिये इन दोनों का अन्त करना अनिवार्य है। अभिमान का अन्त करने के लिये प्राप्त वस्तु आदि की ममता का त्याग करना होगा। कारण, कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका समष्टि शक्तियों से विभाजन हो सके। फिर किसी भी वस्तु को अपना मानना, क्या ईमानदारी है ? अर्थात् घोर बेईमानी है। बेईमानी का अन्त होते ही अभिमान स्वतः गल जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि किसी भी वस्तु को अपना न मानने पर भी उसका सदुपयोग किया जा सकता है, जिसके करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। जिस अनन्त से वस्तु प्राप्त हुई है, उसी अनन्त से उनके सदुपयोग करने की योग्यता और सामर्थ्य भी मिली है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग में कोई कठिनाई, अर्थात् असमर्थता नहीं है। बस, यही पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ के दो भाग हुए–प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना और उनका सदुपयोग

करना। अपना न मानने से अभिमान गल जाता है और सदुपयोग करने से विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। विद्यमान राग की निवृत्ति में ही अनुराग का उदय निहित है और अभिमान के गलने में ही अभिन्नता स्वतः सिद्ध है। अनुराग और अभिन्नता, इन दोनों का स्वरूप एक है, क्योंकि अभिन्नता में अनुराग निहित है और अनुराग से भिन्नता का नाश होता है।

प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना, यह सिद्ध करता है, कि वे जिसकी देन हैं, उसका विश्वास आवश्यक है। समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है और कुछ नहीं। वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विनाश के मूल में कोई उत्पत्ति–विनाश–रहित, अलौकिक, स्वतः–सिद्ध तत्त्व का होना अनिवार्य है। यद्यपि उसे इन्द्रिय, बुद्धि, आदि के द्वारा भले ही विषय न किया हो, परन्तु उसका होना स्वतः–सिद्ध है, नहीं तो उत्पत्ति–विनाश ही सिद्ध न होगा। जिसे बुद्धि आदि से नहीं जानते हैं, उसी पर विश्वास हो सकता है। अतः विकल्प–रहित विश्वास के आधार पर जब साधक अहम् और मम को उस अनन्त के समर्पण कर देता है, तब भी वही दिव्य जीवन प्राप्त होता है, जो पुरुषार्थ–साध्य है।

अहम् के समर्पण से भेद का नाश हो जाता है, क्योंकि अहम्भाव से ही भेद का भास होता है। मम के समर्पण से ही अनासक्ति उत्पन्न होती है। अनासक्ति अनुराग को और अभेदता अभिन्नता को प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से शरणागत साधक भी पुरुषार्थी के समान अनुराग तथा अभिन्नता से सम्पन्न हो जाता है। पुरुषार्थी यदि मिले हुए का सदुपयोग कर सिद्धि पाता है तो शरणागत उस दाता से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर सिद्धि पाता है। मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से भी चित्त शुद्ध होता है, और जिससे मिली है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से भी चित्त शुद्ध हो जाता है।

मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और उसका त्याग मोह का अन्त करने में समर्थ है। व्यक्तित्व के मोह का

अन्त होते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति मिट जाती है, जिसके मिटने से चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि के लिये यह अनिवार्य है कि प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया जाय, पर उससे ममता न की जाय। यह नियम है कि वस्तु आदि की ममता गलकर स्वतः अनन्त के नित्य सम्बन्ध में विलीन हो जाती है। बस, यही शरणागति है। प्राप्त का सदुपयोग पुरुषार्थ, और उसकी ममता का त्याग शरणागति है। अतः पुरुषार्थ तथा शरणागति की एकता के द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त–शुद्ध हो सकता है।

२५–५–५६

२४

सुख–दुःख से अतीत के जीवन की खोज

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

दो अनुभूतियों का संघर्ष चित्त की अशुद्धि है। कारण, कि चित्त पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव भी अंकित है और उसके विरोध में बुद्धि का ज्ञान भी है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध करता है। संकल्प–अपूर्ति का दुःख इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है; अथवा यों कहो कि पराधीनता की अनुभूति होती है। यद्यपि संकल्प–पूर्ति काल में भी प्राणी पराधीन ही है, परन्तु–संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता के कारण पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुखी होता है और यह मान लेता है कि 'मैं तो स्वाधीन हूँ, जो चाहता हूँ, उसे कर डालता हूँ।' यदि उससे यह पूछा जाय कि तुम जो कुछ करते हो, उसकी साधन–सामग्री क्या तुम्हारी अपनी ही है ? क्या उस पर तुम्हारा स्थायी अधिकार है ? क्या उन साधनों के तुम अधीन नहीं हो ? यदि इसी का नाम स्वाधीनता है, तो पराधीनता क्या है ? पराधीनता में स्वाधीनता मान

लेना पराधीनता में जीवन–बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। वस्तुओं का आश्रय घोर पराधीनता है, पर प्राणी वस्तुओं के अभाव में अपने को पराधीन मानता है। वस्तुओं का अभाव यद्यपि पराधीनता की अनुभूति कराने में हेतु है, परन्तु प्राणी उस अभाव को पराधीनता मानता है। यह अनुभूति का अनादर है।

अनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति में सुख का भास वस्तुओं की दासता में आबद्ध करता है। वस्तुओं में अनुकूलता का दर्शन, क्या वास्तविकता है ? इस रहस्य को बिना ही जाने प्राणी वस्तुओं में अनुकूलता मानता है। जिन वस्तुओं की स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उन वस्तुओं में अनुकूलता स्वीकार करना अविवेक–सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अविवेक का अन्त होने पर वस्तुओं में अनुकूलता का दर्शन नहीं होता और फिर दो अनुभूतियों का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रतिकूलता में भी अनुकूलता है और अनुकूलता में भी प्रतिकूलता है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही का यदि सदुपयोग किया जाय, तो परिणाम एक ही हो सकता है। प्राणी अनुकूलता और प्रतिकूलता के परिणाम पर विचार नहीं करता, इस कारण उसे दोनों में विरोध, अथवा संघर्ष प्रतीत होता है। ऐसी कोई अनुकूलता है ही नहीं, जिसने प्रतिकूलता को जन्म न दिया हो और न ऐसी कोई प्रतिकूलता ही है, जिसमें प्राणी का हित न हो।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी के अहित की भावना नहीं है और न किसी से राग तथा द्वेष है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय के प्रति श्रद्धा रखना अनिवार्य है। तो फिर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में भेद मानना और उनके परिणाम में एकता न स्वीकार करना अपनी ही भूल हो सकती है और कुछ नहीं। अनुकूलता स्वभाव से प्रिय है और प्रतिकूलता स्वभाव से ही अप्रिय है, परन्तु फिर भी अनुकूलता चली जाती है और प्रतिकूलता आ जाती है। जो अपने आप आती है, उसको हटाने का प्रयास, और जो अपने आप जाती है, उसको बनाये रखने की

आशा, क्या कभी सफल हो सकती है ? कदापि नहीं।

अनुकूलता में प्रियता क्यों भासती है, और प्रतिकूलता में भय क्यों प्रतीत होता है ? कामनाओं की उत्पत्ति से जो क्षोभ होता है, उस क्षोभ की क्षणिक निवृत्ति के लिये अनुकूलता में प्रियता भासती है। यद्यपि कामना—पूर्ति के पश्चात् पुनः कामनाओं की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, कामना—पूर्ति में जितना सुख भासता है, उससे कहीं अधिक उसके परिणाम में दुःख अपने आप आता है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण सुख के आदि और अन्त के दुःख पर दृष्टि न रखकर क्षणिक सुख पर ही दृष्टि रखता है। इस सुख—लोलुपता के कारण ही अनुकूलता में प्रियता भासती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जब कामना—पूर्ति के सुख को कामना—निवृत्ति का साधन नहीं मानता, अपितु कामना—पूर्ति को ही जीवन मानता है, तब उस सुख की दासता से मुक्त करने के लिये प्रतिकूलता आती है। इस दृष्टि से प्रतिकूलता में प्राणी का विकास निहित है, क्योंकि अनुकूलता के सदुपयोग से जब प्राणी अपना हित नहीं करता, तब प्रतिकूलता के द्वारा प्राकृतिक विधान उस हित की ओर अग्रसर करता है। परन्तु अनुकूलता की आसक्ति प्रतिकूलता में भय उत्पन्न करती है। अनुकूलता और प्रतिकूलता तो प्राकृतिक हैं, परन्तु अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय चित्त की अशुद्धि है। यदि साधक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करने का प्रयास करे, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही दो अनुभूतियों का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है और चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय—ज्ञान के आधार पर वस्तुएँ सुखद प्रतीत होती हैं— यह भी एक अनुभूति है और बुद्धि के ज्ञान से प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्तन एवं अदर्शन प्रतीत होता है— यह भी एक अनुभूति है। इन दोनों अनुभूतियों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, जिसके कारण प्राणी के जीवन में एक विचित्र संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि के

ज्ञान का आदर सहज भाव से हो नहीं पाता और इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित रहता है। ऐसी स्थिति में कामना–पूर्ति का प्रलोभन और कामना–निवृत्ति की लालसा दोनों ही में परस्पर संघर्ष होने लगता है। सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होतीं। और कोई भी कामना पूरी न हो, यह बात भी नहीं है; अर्थात् कुछ कामनाएँ अवश्य पूरी हो जाती हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं, उनको जमा रखना कुछ अर्थ नहीं रखता और जो कामनाएँ स्वतः पूरी हो जाती हैं, उनको रखना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः कामना–अपूर्ति और पूर्ति में कामनाओं को महत्त्व देना निरर्थक है। जिन्हें पूरा होना है, वे पूरी हो ही जायेंगी और जिन्हें पूरा नहीं होना है, वे हो ही नहीं सकतीं। ऐसी दशा में कामना–निवृत्ति में ही महत्त्व प्रतीत होता है। कामना–पूर्त्ति भी कामना–निवृत्ति का ही साधन है और कामना–अपूर्ति में भी कामना–निवृत्ति को ही प्रधानता देनी चाहिए। कामना–निवृत्ति का महत्त्व बढ़ते ही कामना–पूर्ति का सुख और अपूर्ति का दुःख निर्जीव हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है और बुद्धि के ज्ञान का आदर होने लगता है, जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

कामना–पूर्ति का प्रलोभन कभी–कभी इतना बढ़ जाता है कि प्राणी न होने वाली बातों को सोचने लगता है, अर्थात् इच्छापूर्ति के चिन्तन में बँध जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो इच्छाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं, उनका तो चिन्तन करता रहता है, और जो इच्छाएँ पूरी होती हैं, उसमें जीवन–बुद्धि स्वीकार कर लेता है। इतना ही नहीं, जीवनी–शक्ति समाप्त हो जाती है और इच्छाओं का समूह ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है। उस समय प्राणी की बड़ी ही दीन–हीन दशा हो जाती है। वह वस्तुओं के वियोग की वेदना में फँस जाता है और जो नहीं चाहता है, वही दृश्य उसके सामने आता है; अथवा यों कहो कि बेचारा प्राणी मिथ्याचारी हो जाता है। वह अनेक प्रकार के भय तथा अभावों को अनुभव कर व्यथित होता रहता है। यद्यपि इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और

उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, परन्तु उस जीवन की ओर प्राणी ध्यान नहीं देता। प्राकृतिक विधान का विरोध कर भयंकर संघर्ष में आबद्ध हो जाता है। इच्छा-पूर्ति-अपूर्ति परिस्थिति है, जीवन नहीं। उसके सदुपयोग में प्राणी का हित है। उसको जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है, जो अवनति का मूल है।

परिस्थिति के सदुपयोग से साधक परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश कर सकता है। उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव, भय या जड़ता नहीं है। उस जीवन की प्राप्ति प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन–मात्र है, साध्य नहीं। साधन–बुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार यात्री दाएँ–बाएँ दोनों ही पैरों से चलकर अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचता है, उसी प्रकार साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों के सदुपयोग से अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार भोग–सामग्री निरन्तर मिट रही है, और भोगने की शक्ति का भी ह्रास हो रहा है, परन्तु भोग की रुचि का नाश नहीं हुआ। ऐसी वस्तुस्थिति में प्राणी को बड़ी ही उलझन होती है। यदि भोग की रुचि का भी नाश हो जाता, तो भोग से अतीत जो जीवन है, उसकी प्राप्ति हो जाती। भोग से अतीत के जीवन की तो लालसा न हो, और भोग–युक्त जीवन सुरक्षित न रहे, ऐसी दशा में न तो शान्ति ही मिल सकती है और न प्रसन्नता। समस्त इच्छाओं के मूल में यद्यपि चिरशान्ति तथा अखण्ड प्रसन्नता पाने की लालसा बीज–रूप से विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को कामना–पूर्ति के सुख और कामना–अपूर्ति के दुःख से प्राणी दबा देता है। सुख–दुःख अपने आप आने–जाने वाली वस्तुएँ हैं, उनमें आबद्ध होना चित्त को अशुद्ध करना है। सुख में उदारता और दुःख में त्याग अपना लेने पर सुख–दुःख का बन्धन स्वतः टूट जाता है और फिर साधक सुख–दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी हो

जाता है।

भोग की रुचि का नाश भोग की वास्तविकता जान लेने पर स्वतः हो जाता है। भोग की वास्तविकता का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, वह ज्ञान साधक में विद्यमान है और भोग की रुचि भी उसमें अंकित है। जब तक साधक भोग की रुचि को महत्त्व देता है, तब तक उसकी बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन रहती हैं, अर्थात् वह उत्तरोत्तर चेतना से जड़ता की ओर गतिशील होता है। परन्तु यदि साधक विद्यमान ज्ञान के प्रकाश में भोग की रुचि का अंत कर डाले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उत्तरोत्तर जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होता जाता है। अर्थात् विषय इन्द्रियों में , इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है। भोग पराधीनता, जड़ता आदि में आबद्ध करता है और योग स्वाधीनता, सामर्थ्य तथा चिन्मयता प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा योग बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त करने में समर्थ है, परन्तु भोग की रुचि योग की लालसा को शिथिल भले ही बनादे, मिटा नहीं सकती। प्रतिकूलता जीवन में केवल योग की लालसा को प्रबल बनाने के लिए आती है। योग की लालसा भोग की रुचि को खाकर योग से अभिन्न कर देती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

अपने आप आए हुए दुःख का प्रभाव कितना है, और सुख की लोलुपता कितनी है, इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। जो दुःख अपने आप आया है, उस दुःख का भी जीवन में स्थान है। और जो सुख अपने आप चला जाता है, उस पर भी ध्यान देना है। सुख के आदि और अन्त में दुःख है। यदि उस दुःख का प्रभाव इतना हो जाय कि सुख की लोलुपता मिट जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख–दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है। यद्यपि उस जीवन से देश काल की दूरी नहीं है, क्योंकि वह सुख–दुःख के समान आता–जाता नहीं है, अपितु सर्वत्र, सर्वदा ज्यों–का–त्यों है।

परन्तु सुख–दुःख के आक्रमण से आक्रान्त प्राणी उसे अपना नहीं पाता। यदि प्राणी धीरजपूर्वक, शान्त चित्त से, दुःख के भय से भयभीत न हो, और अपने आप जाने वाले सुख की दासता में आबद्ध न रहे, तो वह सुख–दुःख से अतीत के जीवन की खोज कर सकता है। सुख–दुःख से अतीत के जीवन की खोज दुःख के भय से और सुख की दासता से सदा के लिए मुक्त कर देती है। सुख की आसक्ति और दुःख के भय ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य है कि दुःख के महत्त्व को अपना लिया जाय। इससे सुख की दासता स्वतः मिट जायगी, जिसके मिटते ही सुख–दुःख का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर सुख–दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति हो जाती है।

दुःख का भय और सुख की दासता, सुख–दुःख का सदुपयोग नहीं होने देते, और उसके बिना सुख–दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः दुःख के भय तथा सुख की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। सुख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा भी सुख के राग को खा लेती है, और सुख–दुःख से अतीत के जीवन का विश्वास भी सुख–दुःख से सम्बन्ध–विच्छेद कराने में समर्थ है। उपर्युक्त तीनों बातों में से जिस साधक को जो सुगम हो उसे वही अपना लेना चाहिए। किसी एक के भी अपना लेने से सफलता हो सकती है। दुःख का महत्त्व अथवा सुख से अतीत के जीवन की खोज, अथवा सुख–दुःख से अतीत के जीवन पर विश्वास, चित्त की शुद्धि में समर्थ है।

२६–५–५६

२५

सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। कारण, कि इन्द्रियों के अल्प–ज्ञान को ज्ञान मान लेना सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी में विषयों की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो उसे भोगी बना देती है। इन्द्रियों के ज्ञान से जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके परिवर्तन और अदर्शन का ज्ञान प्राणी को है। इसमें किसी भी साधक को सन्देह नहीं है। सभी साधक अपने शरीर के परिवर्तन को और वस्तु एवं व्यक्ति के वियोग को भी जानते हैं। यह भी जानते हैं कि जो वस्तु, अवस्था आदि पहले थी, वह अब नहीं है और जो अब है, वह आगे न रहेगी। इस जानकारी में सन्देह नहीं है। परन्तु उसमें सन्देह की स्थापना करली है, अर्थात् उसका प्रभाव अपने पर नहीं होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि विषयों का राग निवृत्त न हो सका, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। सन्देह में निस्सन्देहता के आरोप से तो विषयों की रुचि उत्पन्न हुई और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना से विषयों में आसक्ति हो गई। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सन्देह में निस्सन्देहता और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना से ही चित्त अशुद्ध हो गया है।

सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप कब हुआ और क्यों हुआ ? कब हुआ, इसका तो पता नहीं, पर सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप मिटाया जा सकता है। यह नियम है कि जो चीज मिटाई जा सकती है, उसकी उत्पत्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है, क्योंकि किसी क़ा विनाश ही उसकी उत्पत्ति को सिद्ध करता है। अतः जो जानते हैं, उसको न मानने से ही सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप

हुआ है। प्रत्येक संयोग के वियोग को, प्रत्येक वस्तु के परिवर्तन तथा अदर्शन को एवं विषय–प्रवृत्ति के दुष्परिणाम को हम जानते हैं, पर उसे मानते नहीं, अर्थात् उस जानकारी का प्रभाव अपने पर नहीं होने देते। उसका परिणाम यह होता है कि सन्देह की वेदना उदित नहीं होती, जिज्ञासा की जागृति नहीं होती और भोग–प्रवृत्ति में ही जीवन-बुद्धि हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

जाने हुए को न मानने से ही कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य और योग में भोग उत्पन्न हो गया है। यद्यपि कर्त्तव्य और योग अकर्त्तव्य और भोग की अपेक्षा सहज और स्वाभाविक है, परन्तु चित्त के अशुद्ध हो जाने से वह कठिन और अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। यह सभी जानते हैं कि निर्बल सबल से रक्षा की आशा रखता है, यह माँग सहज और स्वाभाविक है, इसका पूरा होना भी सम्भव है, क्योंकि बल से निर्बल की सहायता हो सकती है। परन्तु अपने से निर्बल की सेवा करने में कठिनाई प्रतीत होती है। इस कठिनाई में न तो न जानने का दोष है और न असमर्थता का, केवल जाने हुए का अनादर है, अथवा जो कर सकते हैं, उसको न करना है। यह अकर्त्तव्य-कर्त्तव्य के प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, उसका अस्तित्व वास्तविक नहीं है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके अधीन हो जाना, क्या अस्वाभाविकता नहीं है ?

अपने प्रति वैर–भाव, अपना अनादर, अपनी हानि और अपने प्रति स्नेह का अभाव किसी प्राणी को अभीष्ट नहीं है। जो अपने को अभीष्ट नहीं है, वही दूसरों के प्रति कर डालना, क्या अकर्त्तव्य नहीं है ? अर्थात् अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति असमर्थता से, अथवा न जानने से नहीं होती, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग एवं जाने हुए को न मानने से होती है। जो असमर्थ और अनभिज्ञ है, उसके जीवन में कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जो समर्थ और विज्ञ है, उसी के जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न है। कर्त्तव्य का प्रश्न उतने ही अंश में है, जितने अंश में वह जानता है और कर सकता है। अर्थात् प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु के अनुरूप ही

कर्त्तव्य–पालन हो सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–पालन में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। जिसके पालन में स्वाधीनता है, उसमें पराधीनता मान लेना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असावधानी वर्तमान में मिटाई जा सकती है। इसके लिए भविष्य की आशा करना, अथवा हार स्वीकार करना सर्वथा त्याज्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म–सापेक्ष है, उसके लिए भविष्य की आशा की जा सकती है, क्योंकि उसके फल में कर्त्ता स्वाधीन नहीं है, अपितु कर्म का फल प्राकृतिक विधान के अधीन है, और कर्म–सामग्री भी प्राकृतिक है, व्यक्तिगत नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–पालन में फल की आशा नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत कर्त्तव्य के लिए ही कर्त्तव्य–पालन अभीष्ट है। कर्त्तव्य–पालन से दूसरों के अधिकारों की रक्षा होती है और कर्त्ता में से विद्यमान राग निवृत्त होता है। यही कर्त्तव्य का वास्तविक फल है। यह फल प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ को स्वतः प्राप्त होता है। परन्तु जो कर्त्तव्यनिष्ठ कर्त्तव्य के बदले में विषय–भोग की आशा करता है, वह कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य की श्रेणी में ही आ जाता है। अकर्त्तव्य से अपनी और दूसरों की क्षति ही होती है, किसी का हित नहीं होता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में अकर्त्तव्य का कोई स्थान ही नहीं है। जिसका जीवन में कोई स्थान नहीं है, उसका त्याग वर्तमान में हो सकता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य के त्याग में कर्त्तव्य–पालन निहित है, अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग ही कर्त्तव्य–पालन की भूमि है।

कर्त्तव्य–पालन भोग से योग की ओर अग्रसर करता है और अकर्त्तव्य योग से विमुख कर भोग में आबद्ध करता है। योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और श्रम रहित है। कारण, कि प्रत्येक भोग–प्रवृत्ति से पूर्व योग है और भोग–प्रवृत्ति के अन्त में भी योग है, अर्थात् भोग के आदि और अन्त में योग हैं। परन्तु साधक भोगासक्ति के कारण भोग–प्रवृत्ति के अन्त में भी भोग का ही चिन्तन करता रहता है, जिससे उसे अपने–आप आने वाले योग में प्रीति नहीं होती, अथवा यों कहो कि श्रम–रहित योग में निष्ठा नहीं

रहती। भोग का आरम्भकाल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि में ही प्राणी आबद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, भोक्ता सर्वदा भोग–सामग्री के अधीन रहता है और भोग–सामग्री सदैव बदलती रहती है, उसमें स्थिरता नहीं है और भोगने की शक्ति का भी ह्रास होता रहता है। अथवा यों कहो कि भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तुओं का विनाश भी स्वाभाविक है। इस स्वाभाविकता का आदर करने पर भोग की रुचि नष्ट हो जाती है। भोग की रुचि का नाश होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग प्राप्त होता है। उस प्राप्त योग में ज्यों–ज्यों निष्ठा परिपक्व होती जाती है, त्यों–त्यों शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं, क्योंकि योग, शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं चिन्मयता का प्रतीक है। भोग श्रम–साध्य और योग श्रम–रहित है। भोग में पराधीनता और योग में स्वाधीनता है। भोग चेतना से जड़ता की ओर और योग जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर करता है। भोग से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास और योग से आवश्यक सामर्थ्य का संचय स्वतः होता है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण भोग की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो साधक को योगनिष्ठ नहीं होने देती। यदि सन्देह में निस्सन्देहता और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना न की जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में और भोग योग में बदल जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी कर्त्तव्य–विज्ञान तथा योग विज्ञान से विमुख हुआ है और अकर्त्तव्य तथा भोग में आबद्ध हो गया है। अकर्त्तव्य और भोग में आबद्ध होने से प्राणी प्रमादी और हिंसक बन गया है। प्रमादी होने से साधक अपने को देह मानने लगता है, जिससे इन्द्रियजन्य स्वभाव से तद्रूपता हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक इन्द्रियों के अल्प तथा अधूरे ज्ञान को ही ज्ञान मान लेता है और विषय में आसक्त होकर सब प्रकार से दीन–हीन हो जाता है। हिंसक हो जाने से स्वार्थ–भाव इतना बढ़ जाता है कि दूसरों की हानि में अपना लाभ, दूसरों के दुःख में

अपना सुख, दूसरों के ह्रास में अपना विकास, दूसरों के विनाश में अपनी रक्षा और दूसरों के अहित में अपना हित मानने लगता है, जो वास्तविकता के सर्वथा विपरीत है। इस दृष्टि से अनर्थों का कारण एकमात्र अकर्त्तव्य तथा भोग में आबद्ध होना है।

कर्त्तव्य–विज्ञान प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है, क्योंकि अपने प्रति किसी को भी अकर्त्तव्य अपेक्षित नहीं है। कर्त्तव्य प्राकृतिक विधान है। विधान का अनादर अपनी भूल है। भूल को भूल जानकर उसका त्याग करना अनिवार्य है। भूल न जानने में नहीं है, प्रत्युत् जाने हुए को न मानने में है। जाने हुए को न मानना प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु व्यक्ति का अपना ही बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोष को मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–विज्ञान को न अपनाना किसी और की भूल नहीं है। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, भूल को भूल जान लेने पर वह सदा के लिए मिट जाती है। यह नियम है कि भूल–काल में भी वस्तुस्थिति ज्यों–की–त्यों रहती है। परन्तु भूल वास्तविकता का परिचय नहीं होने देती। इस कारण साधक वास्तविकता को अपने जीवन से भिन्न मानने लगता है। पर वास्तविकता तो जीवन से अभिन्न है। जिससे भिन्नता नहीं है, उसकी प्राप्ति श्रम रहित और स्वतः–सिद्ध है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–विज्ञान और जीवन में एकता है। जिस कर्त्तव्य–विज्ञान से अभिन्नता है, चित्त की अशुद्धि के कारण वह जीवन से अलग प्रतीत हो रहा है और जिस अकर्त्तव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है वह जीवन से तद्रूप हो गया है। अकर्त्तव्य उसी की सत्ता से उस पर शासन करता है, जो उसे अपनाता है। कर्त्तव्य–विज्ञान का महत्त्व तथा स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर अकर्त्तव्य सदा के लिए स्वतः मिट जाता है। अतः कर्त्तव्य–विज्ञान, जो स्वाभाविक आवश्यकता है, उसे शीघ्रातिशीघ्र अपना लेना अनिवार्य है।

कर्त्तव्य को अपना लेने से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी जिसके होने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से आने वाली निवृत्ति में दृढ़ता आयेगी, जिससे जिज्ञासा सबल तथा स्थायी हो

जायेगी। जिज्ञासा की पूर्णता कामनाओं का नाश करने में समर्थ है। कामनाओं का अन्त होते ही योग का उदय होगा। योग अनन्त की वह विभूति है जो शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, चिन्मयता अमरत्व आदि दिव्य जीवन से अभिन्न कर देती है। योग की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है। कर्त्तव्य–पालन यदि विद्यमान राग का अन्त करने में समर्थ है, तो योग नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देगा। विद्यमान राग निवृत्त हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो–यही चित्त की शुद्धि है, जो कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग–विज्ञान को अपना लेने पर स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और भोग की रुचि का नाश करना अनिवार्य है। भोगासक्ति से ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है। इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह न होने से भोगासक्ति दृढ़ होती है और उसमें सन्देह होने पर जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो भोगासक्ति के नाश में समर्थ है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की जागृति से चित्त शुद्ध हो सकता है। परन्तु साधक जब तक इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव का अन्त नहीं कर देता, तब तक न तो जिज्ञासा की पूर्ति होती है और न चित्त की शुद्धि ही सम्भव है। इन्द्रिय–ज्ञान का उपयोग कर्त्तव्य–पालन में हो सकता है, परन्तु उसकी सत्यता अंकित न हो। कर्त्तव्य का ज्ञान भी उसी ज्ञान में विद्यमान है, जिससे इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह होता है। वह ज्ञान अनन्त की ओर से प्रत्येक साधक को प्राप्त है। उस प्राप्त–ज्ञान का आदर करना और उसी के प्रकाश में इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग करना चित्त–शुद्धि के लिए आवश्यक है। इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह की उत्पत्ति ही वास्तविक निस्सन्देहता की ओर अग्रसर करती है। वास्तविक निस्सन्देहता में जीवन है। उसमें सन्देह करना और इन्द्रिय–ज्ञान में सन्देह न करना, इस असावधानी से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि निस्सन्देहता सामर्थ्य, शान्ति, अमरत्व, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि की भाँति स्वाभाविक है, परन्तु साधक इन्द्रियों के ज्ञान को ही ज्ञान मानकर स्वाभाविक माँग में शिथिलता उत्पन्न कर लेता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, स्वाभाविक माँग की शिथिलता से ही काम का जन्म होता है और काम की

उत्पत्ति से ही इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता भासती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। इस दृष्टि से इन्द्रिय–ज्ञान की सत्यता और काम की उत्पत्ति दोनों अन्यान्योश्रित हैं। इन दोनों में से किसी एक का अन्त होने पर दोनों का अन्त हो जाता है। काम समस्त कामनाओं की भूमि है और कामनाओं की उत्पत्ति इन्द्रियों और उनके विषयों से सम्बन्ध जोड़ती है। जिज्ञासा की जाग्रति इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध को तोड़ती है, जिसके टूटते ही इन्द्रियाँ मन में और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है तथा बुद्धि सम हो जाती है। बस, यही योग है। योग लालसा-मात्र से सिद्ध हो सकता है, उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि योग के साधन में किसी प्रकार का श्रम नहीं है, अपितु योग की सिद्धि विश्राम में ही निहित है। वास्तविक विश्राम की उपलब्धि कामना–निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति से ही सम्भव है। अतः चित्त–शुद्धि के लिए साधंक को सावधानीपूर्वक वास्तविक निस्सन्देहता प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

२७–५–५६

२६

असम्भव का त्याग तथा सम्भव की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

जो सम्भव है, उसमें प्रवृत्ति न हो अथवा उसकी लालसा तथा जिज्ञासा न हो और जो असम्भव है, उसका चिन्तन हो– यही चित्त की अशुद्धि है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, सत्य की खोज, प्रिय–लालसा सम्भव है और वस्तु–व्यक्ति आदि से नित्य योग असम्भव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही परिवर्तनशील है और प्रत्येक संयोग वियोग में बदलता ही है। किसी के भी सभी

संकल्प पूरे नहीं होते। परन्तु जो संकल्प पूरे नहीं हो सकते, उनका त्याग सम्भव है और संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता से साधक मुक्त भी हो सकता है। जो हो सकता है, उसके कर डालने पर, जो मिलना चाहिए, वह मिल जाता है। अतः जो असम्भव है, उसका त्याग करके, जो सम्भव है, उसको पूरा करने से चित्त स्वतः शुद्ध हो जायेगा।

अनावश्यक संकल्पों के त्याग से आवश्यक संकल्प सुगमतापूर्वक पूरे हो सकते हैं। परन्तु संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध होने से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न होने लगते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख में आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब साधक शुद्ध संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो, क्योंकि संकल्प–पूर्ति का सुख नवीन संकल्पों का जन्मदाता है। इतना ही नहीं, सुख–भोग की रुचि से ही अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं। कारण, कि सुख का भोग देहाभिमान को पुष्ट करता है। यह नियम है कि देहाभिमान में आबद्ध प्राणी चाह–रहित हो ही नहीं सकता। अचाह हुए बिना अशुद्ध संकल्पों का त्याग सम्भव नहीं है और अशुद्ध–संकल्पों के त्याग किए बिना शुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति एवं पूर्ति सम्भव नहीं है। यद्यपि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति राग-रहित होने का उपाय है, परन्तु साधक असावधानी के कारण संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध होकर विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, नवीन राग उत्पन्न कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार संकल्प–पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है और संकल्प–अपूर्ति संकल्प–पूर्ति की दासता से मुक्त करने में अपेक्षित है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति दोनों में ही साधक का हित है। परन्तु जो व्यक्ति संकल्प–पूर्ति को महत्त्व देता है और संकल्प–अपूर्ति को अनावश्यक तथा निरर्थक मानता है, वह संकल्प–अपूर्ति के भय तथा संकल्प–पूर्ति की दासता में आबद्ध हो,

चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

संकल्प–अपूर्ति में दुःख, पूर्ति में सुख और निवृत्ति में शान्ति स्वतः सिद्ध है। अथवा यों कहो कि संकल्प–अपूर्ति में अभाव की अनूभूति और पूर्ति में वस्तु–व्यक्ति आदि की दासता एवं निवृत्ति में स्वाधीनता प्राप्त होती है। संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के परिणाम में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि संकल्प–अपूर्ति–काल में वस्तु–व्यक्ति आदि के अभाव में पराधीनता और संकल्प–पूर्ति में वस्तु–व्यक्ति आदि की उपलब्धि में पराधीनता की अनुभूति होती है। अर्थात् संकल्प की पूर्ति–अपूर्ति में प्राणी पराधीन ही रहता है, जो किसी को स्वभाव से प्रिय नहीं है। जब संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के परिणाम में समानता है, तो फिर संकल्प–पूर्ति को महत्त्व देना और संकल्प–अपूर्ति से भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। संकल्प–पूर्ति का महत्त्व मिटते ही संकल्प–अपूर्ति का भय स्वतः मिट जाता है, जिससे संकल्प–निवृत्ति अपने–आप आ जाती है। यदि साधक संकल्प–निवृत्ति की शान्ति में रमण न करे, तो चित्त–शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक चाह की पूर्ति में श्रम तथा पराधीनता है और चाहरहित होने में न तो श्रम ही है और न पराधीनता, अपितु स्वाधीनता और विश्राम है। बड़े ही आश्चर्य की बात है तो यह कि फिर भी प्राणी चाह–पूर्ति के लिए जितना लालायित रहता है उतना चाह–निवृत्ति के लिए नहीं। यद्यपि चाह–रहित होना आवश्यक चाह की पूर्ति में बाधक नहीं है। और चाह–युक्त रहने से ही चाह पूरी हो जाएगी, यह कोई नियम नहीं है। फिर भी साधक चाह–रहित हो नहीं पाता, यह बड़ी ही जटिल समस्या है। अचाह होने में कोई पराधीनता तथा श्रम नहीं है, किन्तु चाह–रहित होने के लिए प्राप्त वस्तु–व्यक्ति आदि से सम्बन्ध तोड़ना होगा। वस्तुओं का सदुपयोग तथा व्यक्तियों की सेवा भले ही विधिवत् की जाय, परन्तु उनकी ममता का अन्त करना अनिवार्य है। अप्राप्त वस्तु–व्यक्ति आदि के चिन्तन को भी मिटाना होगा। ममता मात्र से ही वस्तु–व्यक्ति सुरक्षित नहीं रह सकते, और

न चिन्तन-मात्र से किसी वस्तु-व्यक्ति आदि की प्राप्ति ही सम्भव है। ममता और चिन्तन से केवल वस्तु-व्यक्ति आदि में आसक्ति ही हो सकती है और कुछ नहीं। वस्तु आदि की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना भूल है। यदि साधक प्राप्त वस्तु आदि से ममता और अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब साधक जीवन ही में मृत्यु का अनुभव कर ले। क्योंकि मृत्यु और त्याग का स्वरूप एक है, परिणाम में ही भेद है। मृत्यु का परिणाम जन्म है, और त्याग का परिणाम अमरत्व है। इतना ही नहीं, मृत्यु अनिच्छापूर्वक आती है और त्याग स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। यद्यपि मृत्यु और त्याग दोनों ही में वस्तु-व्यक्ति आदि का वियोग है। परन्तु अन्तर यह है कि मृत्यु से सम्बन्ध तो बना रहता है, पर वस्तु नष्ट हो जाती है, और त्याग से वस्तु तो बनी रहती है, पर उससे सम्बन्ध नहीं रहता। वस्तु-व्यक्ति आदि का सम्बन्ध ही चित्त को अशुद्ध करता है, क्योंकि इससे लोभ, मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

मृत्यु तो वस्तु का नाश करती है, और त्याग वस्तु के सम्बन्ध का नाश करता है। वस्तु न रहे और सम्बन्ध बना रहे, तथा वस्तु रहे और सम्बन्ध न रहे, इन दोनों के परिणाम में बड़ा भेद है। सम्बन्ध बना रहा और वस्तु न रही, तो उसकी आसक्ति चित्त को अशुद्ध कर देती है। सम्बन्ध नहीं रहा, और वस्तु बनी रही, तो चित्त अशुद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से किसी वस्तु-व्यक्ति का होना, न होना चित्त की शुद्धि में हेतु नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं का सम्बन्ध-विच्छेद चित्त को शुद्ध करता है, और सम्बन्ध चित्त को अशुद्ध करता है।

समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वर्तमान में ही साधक अचाह पद को प्राप्त कर सकता है। अचाह में ही नित्य-योग, चिर-शान्ति अमरत्व और परम-प्रेम निहित है।

वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। परन्तु इन्द्रियों

के ज्ञान में सत्यता वस्तुओं के स्वरूप का बोध नहीं होने देती। साधक को जब तक इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह नहीं होता, तब तक जिज्ञासा की जागृति नहीं होती। जिज्ञासा की जागृति के बिना वस्तुओं की कामना का नाश नहीं होता, और कामना–नाश हुए बिना वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है। कारण, कि कामना–पूर्ति का प्रलोभन ही व्यक्ति को वस्तुओं में सत्यता एवं सुन्दरता का भास कराता है, जो चित्त को अशुद्ध करता है।

जिज्ञासा की जागृति आवश्यक कार्य में बाधक नहीं है, क्योंकि जो कार्य मिटाया नहीं जा सकता, उसका पूरा होना अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य समष्टि–शक्ति के सहयोग से पूरा होता है। पर उस कार्य के द्वारा सुख का भोग, अथवा सुख की आशा व्यक्ति स्वयं अपने प्रमाद से करता है। जिज्ञासा सुख–भोग तथा सुख की आशा का नाश करती है, कार्य का नहीं। जब प्रत्येक कार्य सुख भोग तथा सुख की आशा से रहित होने लगता है, तब कार्य के अन्त में जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करने में समर्थ होती है। अर्थात् जिज्ञासा काम की नाशक है, कार्य की नहीं। कार्य तो प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राप्त परिस्थिति के द्वारा स्वतः होता रहता है। आवश्यक कार्य के लिए प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि के सदुपयोग की अपेक्षा है, अप्राप्त वस्तु आदि के चिन्तन की नहीं। ज्यों–ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों वस्तु–व्यक्ति आदि का चिन्तन स्वतः मिटता जाता है, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा–पूर्ति तथा काम का नाश युगपद् है, जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार निवृत्ति कामनाओं की, पूर्ति जिज्ञासा की तथा प्राप्ति प्रेम की होती है। कामनाओं की निवृत्ति में योग, जिज्ञासा की पूर्ति में बोध और प्रेम की प्राप्ति में अगाध अनन्त रस निहित है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति को योग, बोध तथा प्रेम पर दृष्टि रखते हुए ही करना चाहिए, तभी सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। प्रवृत्ति का सौन्दर्य प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में और परिस्थिति

का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। विद्यमान राग की निवृत्ति होने पर जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति की उत्कट लालसा स्वतः उत्पन्न होती है। जिज्ञासा की पूर्ति नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देती और प्रेम की प्राप्ति सब प्रकार की खिन्नता, नीरसता, भिन्नता आदि को खा लेती है। खिन्नता का अन्त होते ही प्रसन्नता प्राप्त होती है, नीरसता का अन्त होते ही अगाध अनन्त रस मिलता है और भिन्नता का अन्त होते ही भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है। परन्तु प्रेम की प्राप्ति जिज्ञासा की पूर्ति में ही सम्भव है, क्योंकि प्रेम निस्सन्देहता की भूमि में ही उदय होता है और जिज्ञासा की पूर्ति कामनाओं की निवृत्ति से ही हो सकती है। अतः कामना—निवृत्ति के लिए ही अनावश्यक कामनाओं का त्याग और आवश्यक कामनाओं को पूरा करना है। आवश्यक कामनाएँ प्राकृतिक विधान के अनुसार स्वतः पूरी हो जाती हैं। परन्तु कामना—पूर्ति का उद्देश्य, कामना—निवृत्ति न होने के कारण कामना—पूर्ति श्रम— साध्य प्रतीत होती है। यदि साधक कामना—पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो सकता है।

कामना—पूर्ति के प्रलोभन ने ही, जो सम्भव है, अर्थात् जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति, उसे असम्भव सा बना दिया है और वस्तु-व्यक्ति आदि का नित्य संयोग सुरक्षित रखने की सोचना, जो असम्भव है, उसमें सम्भाव्यता का भास करा दिया है। सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का दर्शन कामना—पूर्ति के प्रलोभन से ही प्रतीत होता है। यद्यपि जो असम्भव है, वह सम्भव हो नहीं सकता और जो सम्भव है, उससे निराश होना कुछ अर्थ नहीं रखता। परन्तु प्राणी इन्द्रिय—ज्ञान के प्रभाव में आबद्ध होने के कारण निराशा में आशा और आशा में निराशा मान बैठता है, जो सर्वथा त्याज्य है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से कभी निराश नहीं होना चाहिए। परन्तु उसका उपयोग कामना—निवृत्ति, जिज्ञासा—पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए। असत्य को असत्य जान लेने पर सत्य की खोज तथा उसकी प्राप्ति हो

सकती है। अतः सत्य की खोज एवं उसकी प्राप्ति से भी निराश नहीं होना चाहिए। वस्तुओं से अतीत जो है, उस पर विश्वास हो सकता है। जिस पर विश्वास हो सकता है, उससे नित्य—सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसकी मधुर स्मृति अपने—आप होती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति किसी की विस्मृति करा देती है। अतः जिनसे नित्य—सम्बन्ध है, उनकी मधुर स्मृति वस्तु आदि की विस्मृति करा देती है, जिसके होते ही प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का प्रेम प्रेमी का जीवन हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान—प्रदान है, जो रस—रूप है।

प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए और वस्तु, व्यक्ति आदि का नित्य संयोग असम्भव है, उसकी आशा नहीं करनी चाहिए। व्यक्तियों की सेवा और वस्तुओं का सदुपयोग कर्त्तव्य है। उससे कभी विमुख नहीं होना चाहिए। कर्त्तव्य—परायणता और प्रेम की आशा दृढ़ होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

२८—५—५६

[illegible] प्रतिष्ठित [illegible] में भी विराजमान रहा [illegible]
[illegible] पर विश्वास ही [illegible]
[illegible] है। उनकी [illegible]
[illegible] अपने-अपने
[illegible] की स्मृति [illegible] की विस्मृति [illegible]
[illegible] उनकी मधुर स्मृति [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
है और [illegible] हैं।

[illegible] कभी विस्मृत नहीं [illegible]
[illegible]
[illegible] और [illegible]
[illegible] विस्मृत नहीं [illegible]
[illegible]
हो सकता है।

[illegible]

चित्त की शुद्धि के लिये साधक को सरलतापूर्वक अपनी वस्तुस्थिति अपने सामने स्पष्ट रखनी चाहिए। अपने से अपनी दशा को छिपाना नहीं चाहिए। वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित होगी, अथवा आनन्द की गंगा लहराएगी। व्याकुलता की अग्नि में समस्त अशुद्धि भस्मीभूत हो सकती है, और आनन्द की गंगा में भी समस्त विकार गल जाते हैं। इन दोनों में से किसी भी एक से चित्त शुद्ध हो सकता है। यद्यपि व्याकुलता में आनन्द और आनन्द में व्याकुलता ओत-प्रोत है, परन्तु एक काल में एक ही की प्रधानता प्रतीत होती है। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और अग्नि में काष्ठ स्थित है, उसी प्रकार आनन्द में व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है। अग्नि के रहते हुए भी काष्ठ में शीतलता और काष्ठ के रहते हुए अग्नि में दाहकता विद्यमान है। उसी भाँति आनन्द में व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है। —इसी पुस्तक से

मूल्य
पन्द्रह रुपये

4000 प्रतियाँ
नवम्बर 1998

Chitralekhaa 442415